सौ० सवितावाई कापड़िया स्मारक ग्रन्थमाला नं० ९

ॐ

संक्षिप्त-जैन-इतिहास।

भाग ३ : खंड ३

(दक्षिणभारतका मध्यकालीन इतिहास)

लेखक—

श्रीमान् बाबू कामताप्रसादजी जैन,

ऑनरेरी सम्पादक "जैनसिद्धांत भास्कर"

व ऑनरेरी मजिस्ट्रेट, अलीगंज (एटा)

प्रकाशक:—

मूलचन्द किसनदास कापड़िया,

मालिक, दिगम्बरजैनपुस्तकालय, सूरत।

प्रथमावृत्ति] वीर सं० २४६७ [प्रति ८००

"दिगम्बर जैन" के ३४ वें वर्षके ग्राहकोंको भेट।

मूल्य-बारह आने।

प्रकाशक:-

मुद्रक:
मूलचन्द किसनदास कापडिया
जैन विजय प्रेस
सूरत

सौ० सविताबाई मूलचन्द कापडिया-



स्मारक ग्रंथमाला नं० ९

हमारी धर्मपत्नी सौ० सविताबाई वीर सं० २४५६ में सिर्फ २२ वर्षकी अल्पायुमें एक पुत्र चि० बाबूभाई व एक पुत्री चि० दमयंतीको बिलखते छोड़कर स्वर्गवासिनी हुई थी उस समय उनके स्मरणार्थ हमने २६१२) का दान किया था, उसमेंसे २०००) स्थायी शास्त्रदानके लिये निकाला था जिसकी आयसे इसी ग्रन्थमालाका प्रादुर्भाव हुआ है और आजतक निम्नलिखित ८ ग्रन्थ इस ग्रन्थमाला द्वारा प्रकट करके 'दिगम्बर जैन' या 'जैन महिलादर्श' के ग्राहकोंको भेट दिये जा चुके हैं:—

१—ऐतिहासिक स्त्रियां (ब्र० पं० चन्दाबाईजी कृत)		॥)
२—संक्षिप्त जैन इतिहास (द्वि० भाग प्र० खण्ड)		१॥।)
३—पञ्चरत्न (बाबू कामताप्रसादजी कृत)		।≈)
४—संक्षिप्त जैन इतिहास (द्वि० भाग द्वि० खण्ड)		१≈)
५—वीर पाठावली—(बा० कामताप्रसादजी कृत)		॥।)
६—जैनत्व (रमणिक वी० शाह वकील कृत)		।≈)

७–संक्षिप्त जैन इतिहास (भाग ३ खण्ड १) १)

८–प्राचीन जैन इतिहास तीसरा भाग (पं० मूलचन्द्र वत्सल कृत) ।।।)

९–संक्षिप्त जैन इतिहास (भाग ३ खंड ३) यह नववां ग्रन्थ प्रकट किया जाता है और "दिगम्बर जैन" मासिक पत्रके ३४ वें वर्षके ग्राहकोंको भेट किया जाता है। इसकी कुछ प्रतियां विक्रयार्थ भी निकाली गई हैं।

यदि जैन समाजके श्रीमान् व दानी महोदय ऐसे शास्त्रदानका महत्व समझें तो ऐसी कई स्मारक ग्रन्थमालायें दि० जैन समाजमें निकल सक्ती हैं जैसा कि श्वेताम्बर जैन समाजमें तथा अन्य समाजोंमें लाखों रु०के दानसे ऐसी कई स्मारक ग्रन्थमालायें चलती हैं। इसके लिये सिर्फ दानकी दिशा ही बदलनेकी आवश्यता है। क्योंकि दान तो दिगम्बर जैन समाजमें लाखों रुपयाका होता है, लेकिन उसका उचित उपयोग नहीं होता है और बहुत जगह तो दानकी रकम अपने यहांकी वहियोंमें किन्वी पड़ी रहती हैं तथा नाम बड़ाईके लिये धर्मके नामसे मन्दिरोंमें खर्च किये जाते हैं। अतः अब तो दिगम्बर जैनसमाज समयकी आवश्यकता समझे और जिनवाणी उद्धारका मार्ग अर्थात् शास्त्रदानकी तरफ ही अपना लक्ष दे यही उचित व आवश्यक है।

–प्रकाशक।

दो शब्द।

प्रस्तुत पुस्तक 'संक्षिप्त जैन इतिहास' के तीसरे भागका तीसरा खंड है। इस खंडमें चालुक्य और राष्ट्रकूटवंशके राजाओंके समयमें जैनधर्मकी क्या दशा रही, यह बताया गया है। पाठक-गण, देखेंगे कि यह समय जैनधर्मके उत्कर्षके लिये स्वर्णकाल था। जैनधर्मकी उन्नतिके साथ ही देश भी समृद्धिशालीन उच्च दशाको प्राप्त हुआ था। जैनधर्मने लोगोंको सात्विक–दयालु परंतु साहसी और वीर बनाया था। अहिंसाका गौरव उनके चरित्रोंसे प्रगट है। आशा है, पाठकगण इसके पाठसे समुचित लाभ उठायेंगे।

इस खंडको रचनेमें हमें श्री जैनसिद्धांत भवन, आरा और इम्पीरियल लायब्रेरी कलकत्तासे आवश्यक साहित्य प्राप्त हुआ है। इस कृपाके लिये हम उक्त पुस्तकालयोंके आभारी हैं।

श्री० कापड़ियाजीको भी हम भुला नहीं सकते। उन्हींकी प्रेरणासे यह खंड शीघ्र तैयार हो सका है और 'दिगम्बर जैन' के ग्राहकोंको उपहारमें मिल रहा है। एतदर्थ वह भी धन्यवादके पात्र हैं।

अलीगंज (एटा)
ता. ७–६–४१

–कामताप्रसाद जैन।

निवेदन।

दि० जैन समाजके सुप्रसिद्ध विद्वान व इतिहास लेखक श्रीमान् बाबू कामताप्रसादजीने संक्षिप्त जैन इतिहासके प्रथम १ खण्ड १ भाग, दूसरा खंड १--२ भाग व तीसरा खंड १--२ भाग बड़े भारी परिश्रम व खोज पूर्वक लिखे थे जो प्रकट हो चुके हैं। और यह तीसरे खंडका तीसरा भाग भी आपने ही अनेक ग्रन्थोंसे खोज करके लिख दिया है जो प्रकट किया जाता है। आप इसप्रकार जैन साहित्यकी जो सेवा कर रहे हैं उसके लिये सारा जैन समाज चिरकृतज्ञ रहेगा। तथा निःस्वार्थ भावसे ऐसी साहित्य सेवा करते रहनेके कारण आपके तो हम अत्यन्त आभारी हैं ही।

ऐसे ऐतिहासिक साहित्यका सुलभतया प्रचार हो इसलिये ही यह 'दिगम्बर जैन' के ग्राहकोंको भेंटमें देनेके लिये व कुछ प्रतियां विक्रयार्थ भी निकाली गई हैं। आशा है जैन समाज इसको शीघ्र ही अपना लेगी।

सूरत
वीर सं० २४६७
आषाढ वदी ११
ता. २०-६-४१

निवेदक—
मूलचन्द किसनदास कापड़िया
—प्रकाशक।

संकेत-सूची ।

प्रस्तुत खंडकी रचनामें जिन खास ग्रन्थोंका उपयोग किया गया है, उनका उल्लेख संकेतरूपमें यथास्थान सधन्यवाद किया गया है। संकेत-सूची निम्नप्रकार है:—

आपु०=आदिपुराण, श्री० जिनसेनाचार्य कृत (इन्दौर)

इका०=इपीग्रेफिया कर्नाटिका (Epigraaphia Carnatica) बेंगलोर ।

इंए०, इंऐं० }=इंडियन ऐंटीकेरी (बम्बई)

इंहिका०=इंडियन हिस्टारीकल कारटर्ली-(कलकत्ता)

उपु०=उत्तरपुराण, श्री० गुणभद्राचार्य प्रणीत-(इन्दौर)

एइं०=एपीग्रेफिया इंडिका (Epigraphia Indica)कलकत्ता ।

कजैक०=कर्णाटक जैन कवि, प्रेमीजी (बम्बई)

कंच०=करकन्डुचरिय (कारंजा जैन सीरीज)

कलि०, हिकलि० }=हिस्ट्री ऑव कनारीज लिटरेचर, श्री० ई० पी० राइस कृत (कलकत्ता)

कोपण०=इंस्क्रिपशन्स एट कोप्बल (निजाम आर्केलाजिकल सीरीज, हैदराबाद)

जैऐं०=जैन ऐंटीकेरी (आरा)

जैसाइं०=जैनीज्म इन साउथ इंडिया, एस० आर० शर्मा ।

जैसिभा०=जैन सिद्धांत भास्कर (आरा)

जैशिसं०=जैन शिलालेखसंग्रह (माणिकचन्द्र ग्रंथमाला)

जैहि०=जैनहितैषी (बम्बई)

दक्षिण०=दक्षिणभारत और जैनधर्म (मराठी), श्री बी. पाटीलकृत

दिजैडा०=दिगम्बर जैन डायरेक्टरी (बम्बई)

दीरा०=दी राष्ट्रकूट्स एण्ड देयर टाइम्स, श्री अल्तेकरकृत (पूना)

नाच०=नागकुमार चरित्र (कारंजा जैन सीरीज़)

नीवा०=नीतिवाक्यामृतम् (माणिकचंद जैनग्रंथमाला बंबई)

बंगै०=गैजेटियर ऑव बाम्बे प्रावेंस (१८९६)

बंप्राजैस्मा०=बम्बई प्रान्तीय जैन स्मारक (सूरत)
श्री० ब्र० सीतलप्रसादजीकृत

भाप्रारा०=भारतके प्राचीन राजवंश, श्री वि० रेउकृत (बंबई)

मपु०=महापुराण, कवि पुष्पदंतकृत (श्री माणिकचंद्र दि०जैन ग्रंथमाला बंबई)

मैकु०=मैसूर एंड कुर्ग फ्रॉम इंस्क्रिपशन्स, श्री लुई राइसकृत (बंगलोर)

मेजै०=मेडियवेल जैनीज्म (Medieaval Jainism) श्री भास्करानन्द सालेतोरकृत (बम्बई)

विर०=विद्वद्रत्नमाला-श्री नाथूरामजी प्रेमीकृत (बम्बई)

हरि०=हरिवंशपुराण (मा० चं० ग्रं०)

हिंविको०=हिन्दी विश्वकोष (कलकत्ता)

A History of Classical Sanskrit Literature by A. Barriedle Keith (Heritage of India Series, Calcutta).

A History of Classical Sanskrit Literature, by M. Krishanamchariar, (Madras).

नोट—इनके अतिरिक्त अन्य संकेत पूर्व खंडोंमें लिखे हुए हैं।

विषय-सूची ।

शुद्धाशुद्धिपत्र ।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१५	१४	शासकी	शासककी
१६	१७	समृद्धिका विजयादित्य	समृद्धिका श्रेय विजयादित्य
१६	फुटनोट*	"संभवतः इन्हींका अपर नाम जयसिंह था" गलत है—निकाल दो ।	
१७	१४	मृत्युके उत्तराधिकारी उनके	मृत्युके समय उनके उत्तराधिकारी
१८	१	जयसिंह सत्याश्रय	सत्याश्रय
२३	१	गुणभद्राचार्य	गुणचंद्राचार्य
२७	१४	समुदाय	समुदार
३२	६	मिलते	मिलती
३४	६	से	में
३८	१५	परशस्त	पराास्त
४०	८	ई०	ई० में
४०	१२	अमोघवर्षके	अमोघवर्षको
५१	९	सम्राट्को	सम्राट्की
५३	दूसरा शीर्षक	यामीण	ग्रामीण
६४	१	ऊपर	अपर
६४	१३	उन्हें	×
७६	१	चतुर्दशी	चतुर्दशीके
८०	७	वे	×
८०	१२	से	ने

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
८१	२०	of......	of Jainism..." —Altekar
,,	२१	......o	......of
,,	२२	atest	greatest
,,	२३	×	Jain
८४	१२	अमोघवर्षने	अमोघवर्ष
,,	२२	religions	religious
,,	२३	Amoghovarsha	Amoghvarsha
८८	२१	छोटे	छोटे भाई
८९	७	पोराण	पोण्ण
९०	६	जयवंट	जयघंट
१००	१२	कं हाटक	कह्नाटक
११२	७	चक्रवर्ती	राजमंत्री
११८	१५	अहिंसाको	अहिंसाकी
१२५	१३	वज्रपाकार	वज्रप्राकार
१३०	१	निस्मन्देह	निस्सन्देह
,,	२	इच्छापूर्वक	इच्छापूरक
,,	५	कं	का
१३१	१	पूजादिये	पूजादिकं
१३२	१	निर्भय	निर्भर
१३६	१८	समयाभरणमें	समयाभरणने
१४२	१४	बाणजी	बाणकी
,,	१८	संरार	संसार
,,	२१	होना सम्भव	होना शायद ही सम्भव

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१४५	२०	अनूढी	अनूठी
१४६	१०	कवितासे	कविता-सी
,,	१९	Jainism	Jinasena
,,	२१	JABBRAS	JBBRAS
१४९	१	नानक	नामक
,,	१३	काव्यकर्मज्ञो	काव्य-मर्मज्ञो
१५०	११	' × '	
१५२	१३	उत्पत्ति	उन्नति
,,	१८	आश्रम	आश्रय
१५४	९	थी	थे
१५९	२१	Jain	gain
,,	२२	langnge	language
१६२	१९	pillors	pillars
१६६	१०	पक्षिगों	पक्षियों

नोट—'मल्लिकामोद शान्तीस' का वर्णन पृ० १२३ पर ठीक दिया है। पृ० २३ पर नहीं पढ़ना चाहिए।

प्रकाशक

ॐ नमः सिद्धेभ्यः।

संक्षिप्त जैन इतिहास।

भाग ३--खंड ३।

प्राक्-कथन।

"वत्थु-सहावो-धम्मो"।

वस्तुस्थिति विवेचना।

वस्तुका स्वभाव ही धर्म है, स्वगुणोंमें स्थित रहना अपने धर्म पर आरूढ़ रहना है और अपने गुणोंसे चलित होना धर्मसे च्युत होना है। जिस प्रकार जलका स्वगुण शीतलता है, उसी प्रकार जीवात्माका अपना गुण दर्शन-ज्ञान और सुख है। जानने देखने और सुख अनुभव करनेकी लालसा प्रत्येक जीवमें स्वभावत: है। अतएव मनुष्य, पशु, पक्षी सब ही जीवित प्राणियोंका धर्म दर्शन, ज्ञानमई और सुखको दिलानेवाला है। इस धर्मकी सिद्धिके लिये जो भी साधन काममें लिये जाते हैं, वह भी धर्मके अङ्ग होनेके कारण धर्म ही समझे जाते हैं। लोकमें सूक्ष्मदृष्टिसे अन्वेषण करने पर प्रत्येक मनुष्य इस परिणाम पर पहुंचता है कि प्रत्येक जीव स्वगुणोंसे भटका हुआ है तभी तो वह दुखी है। सुख पानेके लिये प्रत्येक प्राणी छटपटा रहा है। परन्तु वह नहीं जानता कि वह दुखी है अपनी ही गल्तीसे।

स्वधर्मको उसने नहीं चीन्हा है । वह शरीररूपी कारागृहको परपदार्थ नहीं समझे हुये है । यही भ्रांति उसके दुःखका कारण है । पराई वस्तुको मोहग्रसित होकर अपनाना अपराध है । अनन्त कालसे प्रत्येक प्राणी पुद्गलरूपी पर पदार्थको अपनाये हुये है—वह शरीर और शरीर-जन्य सुखाभासोंमें पागल हो रहा है । उसकी सद्दृष्टि खो गई है । वह परायेमें अपनेको ढूंढ़ता है । सांसारिक ऐश्वर्य और भोगमें अंधा होकर उनके पीछे भागता है और सबसे ज्यादा हिस्सा पानेके लिये अपने साथियोंसे लड़ मरता है । उसके स्वार्थमें जो बाधक बनता है वह उसके कोप—करवालका वार खाकर पृथ्वीपर लौटता दिखाई पड़ता है । यही नहीं कि कोई बाधक बनो, बल्कि अब तो नृशंसता और स्वार्थपरता इतनी बढ़ी हुई है कि सबसे अधिक लौकिक सम्पन्नता और महानता पानेके लिये अकारण ही पड़ोसियों पर भूखे भेड़ियेकी तरह टूट पड़ना एक मामूली बात हो गई है । यूरुपमें नरचण्डीका नग्न—नृत्य इस भयंकरताका ही दुष्परिणाम है । आज लोकके प्राणी संकटमें घबड़ा रहे हैं । उनके दिल दहल रहे हैं, उनके निरपराध पुत्र पुत्रियां और भाई-बंधु विषैली गैसों और ध्वंसक बमगोलोंके शिकार हो रहे हैं । उन्हींकी आंखोंके आगे उनका प्यारा परिकर, प्रिय परिवार और प्राणोंसे प्रिय परिग्रह—पोट नष्ट—भ्रष्ट किया जा रहा है । वह दिल मसोसकर यह अनर्थ देख रहे हैं । उनके मुंहसे 'आह' और आंखोंसे 'आंसू' भी नहीं निकलते । उनका दिल पत्थरका हो गया है और आंखें पथरा गई हैं ! परतुं इस भयानकतामें उनको सद्दृष्टि नहीं सूझती—उन्हें अपनी करनीका ध्यान नहीं आता । क्या उन्होंने

अपने गतजीवनके पृष्ठोंको पलटा है ! प्राणशोषक बंदूक लेकर वह निरपराध मूक पशुओं और पक्षियोंके परिवार नष्ट करनेमें मजा लेते थे ! मूक प्राणी चुपचाप मानवोंके अत्याचारोंको सहते रहे हैं । मौजके लिये ही नहीं, शौकके लिये, जबानके स्वादके लिये और न जाने किस-किस वहमके लिये मानवोंने दीन हीन जीवोंके प्राण अपहरण करना एक खेल कर लिया है । पशु ही नहीं, गरीब और कमजोर मानव भी इन हिंसकोंकी गोलीके निशाना बनते आए हैं । क्रमशः यह हिंसक भावना उनमें यहां तक बढ़ी कि आज मनुष्यताका दिवाला निकल गया है और मनुष्यको मनुष्य ही नहीं समझा जाता है। यह सब कुछ एक मात्र परपदार्थोंमें अपनापन मान लेने और स्वधर्मको विसार देनेका दुष्परिणाम है । सारे दुःखका मूल सदृष्टिको भूलने अपने और परायेके भेदको ठीक ठीक न चीह्नेके कारण है । आज ही नहीं, कम और ज्यादा यह दुःप्रवृत्ति लोकमें हमेशासे रही है और इस दुःप्रवृत्तिसे प्राणियोंको सावधान करनेके लिये—उन्हें दुःखसागरसे पार उतारनेके लिये हमेशा महापुरुष उत्पन्न होते रहे हैं ।

जैनधर्मकी प्राचीनता !

जैनियोंका विश्वास है कि प्रत्येक कल्पकालमें ऐसे चौवीस महापुरुष जन्म लेते हैं, जो 'धर्म—तीर्थ'की स्थापना करनेके कारण 'तीर्थङ्कर' कहलाते हैं[1]। वही लोकमें परम पूज्य होनेके कारण 'अर्हत्'[2] और क्रोधादि अन्तरंग शत्रुओंको जीतनेकी अपेक्षा 'जिन'

---

१. बृहत् जैनशब्दार्णव, द्वितीयखंड पृष्ठ ४८१ । २. अभिधान चिन्तामणि कोष (१, २४, २५) इंडिका०, भा० ५ पृ० ४७५ ।

अथवा 'जिनेन्द्र' नामसे भी प्रख्यात् होते हैं[1]। निपरिग्रही और निरस्संग होनेके कारण वह 'निर्ग्रन्थ' नामसे भी अभिहित हुये हैं[2] और परमोत्कृष्ट समभावी संयमशील होनेकी वजहसे उन्हें ही लोग 'श्रमण' कहकर पुकारते हैं[3]। तीर्थङ्करके इन नामोंकी अपेक्षा ही उनका प्रतिपादित धर्म (१) तीर्थक, (२) आर्हत्, (३) जैन, (४) 'निर्ग्रन्थ' और (५) श्रमण धर्मके नामसे समयानुसार लोकमें प्रसिद्ध हुआ मिलता है।

"संक्षिप्त जैन इतिहासके पूर्व प्रकाशित भागोंमें जैनधर्मकी वर्तमान कल्पकालीन उत्पत्तिका प्रामाणिक वर्णन लिखा जाचुका है, जिसमें स्पष्ट है कि इस कल्पकालमें सबसे पहले सभ्यताके अरुणोदयमें तीर्थंकर भगवान् वृषभ अथवा ऋषभदेवने जैन धर्मका उपदेश दिया था। उनके पश्चात् समयानुसार तेईस तीर्थंकर और हुये थे, जिनमें सर्व अन्तिम भ० महावीर वर्द्धमान थे। अंतिम तीर्थंकर महावीरके समकालीन म० गौतमबुद्ध थे। गौतमबुद्ध पहले तेईसवें तीर्थंकर भ० पार्श्वनाथके तीर्थवर्ती जैन मुनि रह चुके थे। जैन मुनिके पदसे भ्रष्ट होकर ही उन्होंने बौद्ध धर्मकी स्थापना की थी। यद्यपि बौद्धधर्म जैन धर्मसे सर्वथा भिन्न और स्वतंत्र मत है, परन्तु उसका सादृश्य

---

१. 'घातिकर्माणि जयतिस्म इति जिनः।'–गोम्मटसार जीव० गा० १०।

२. 'णिग्गंथा णिस्संगा'-'बाह्यो ग्रन्थोऽगमक्षाणामंतरो विषयैषिता। निर्मोहस्तत्र निर्ग्रंथः पांथः शिवपुरेऽर्थतः।"

३. 'समयाए समणो होइ'–'समणोत्ति संजदोत्ति य रिसि मुणि साधुत्ति वीदरागोत्ति।'

जैन धर्मसे बहुत कुछ है। शायद यही वजह है कि बहुधा लोग जैन धर्म और बौद्ध धर्मको एक धर्म माननेकी गलती करते हैं। किन्तु वास्तविकरूपेण जैनधर्म एक स्वतंत्र और स्वाधीन मत है, जो प्रत्येक प्राणीको स्वभाग्यनिर्णय करनेका पूरा मौका देता है। उसका सन्देश प्राणी मात्रके लिये यही है कि जैसे चाहो वैसे बन जाओ। अच्छे कर्म करोगे अच्छा फल पाओगे, बुरे कर्म करोगे बुरा फल पाओगे।

लोकका प्रत्येक प्राणी सुखी जीवन बिताना चाहता है। प्रत्येकको स्वयं सुखी जीवन बितानेका न्यायसंगत अधिकार है और उसका कर्तव्य है कि वह दूसरेके सुखमई जीवन बितानेमें सहायक बने। 'जियो और जीने दो, यही नहीं बल्कि दूसरेको सुखमय जीवन बितानेके लिये सहायता दो' यह है जैनधर्मका संदेश और जहां जहां जिस जिस कालमें जैनधर्मका यह संदेश सर्वोपरि रहा वहां-वहां उस उस कालमें सुख और समृद्धिकी पुण्य धारायें वहीं थीं। उसपर खूबी यह कि जैनधर्म मनुष्यको स्वावलम्बी बनाता हैं। वह कहता है कि सम्यक्दृष्टी बनकर प्राणी पूर्ण ज्ञानी और पूर्ण सुखी बन सकता है। प्रत्येक प्राणीके लिये उच्चतम ध्येय परमात्मपदको प्राप्त कर लेना है। रंकसे राव बनानेवाला धर्म केवल जिनेन्द्र महावीरका धर्म है, जिसमें मनुष्य-मनुष्यमें कोई मौलिक भेद नहीं माना गया है। मनुष्य मात्र भाई-भाई हैं और अपने कर्मसे वह उच्च और नीच बन सकते हैं। कवीन्द्र रवीन्द्रके शब्दोंमें कहना पड़ता है कि भ० महावीरकी यह शिक्षा तत्कालीन भारतमें इस छोरसे उस छोर तक फैल गई थी और भारतीयोंमें भ्रातृभावकी भावना जागृत हो गई थी।

जैन धर्मसे भारतका पतन नहीं हुआ।

किन्हीं लोगोंकी यह मिथ्या धारणा है कि भारतमें जैन धर्मका अत्यधिक प्रचार हो जानेके कारण ही भारतका पतन हुआ, परन्तु यह धारणा भारतीय इतिहाससे अनभिज्ञताकी ही द्योतक है। जैन धर्म निस्संदेह अहिंसाको परम धर्म बतलाता है, परन्तु मनुष्यकी आत्मोन्नतिके अनुसार ही उसके दर्जे नियत कर देता है। अहिंसाके पूर्ण उपासक वह ही साधु—महात्मा होते हैं जो अहर्निश आत्मसाधनामें तल्लीन रहते हैं। जिन्होंने लौकिक व्यवहारमई जीवनमें कर्मवीरताका परिचय देकर उससे उदासीनता धारण कर ली है, पूर्ण संतोषी हो गये हैं, जिन्हें कुछ करने-धरनेकी लालसा बाकी नहीं रही है, वही पूर्ण अहिंसक वीर बनते हैं। उनके लिये शत्रुमित्र-उपकारी-अपकारी सब बराबर होते हैं। वह सब अत्याचारोंको शान्तिपूर्वक समभावोंसे सहन करते हैं और खूबी यह कि अत्याचारीके प्रति अमित दया रखते हैं। उसे सन्मार्गका पर्यटक बना कर ही शान्त होते हैं। ऐसे ही महान् साधुवरोंके लिये कहा गया है कि 'जे कम्मे सूरा ते धम्मे सूरा' जो कर्मवीर हैं वही धर्मवीर होते हैं।×

× ऐसे महान् अहिंसक वीर आपत्ति आनेपर उसका मुकाबिला समभावसे शान्ति पूर्वक करते हैं। आज म० गांधीजीने जिस अहिंसाको राजनीतिका हथियार बनाया है, वह जैन संघमें हजारों वर्षों पहले सामूहिक रूपमें भी आजमाया जा चुका है। हस्तिनापुरमें श्री अकंपनाचार्य और सातसौ मुनियोंके प्राण लेनेपर बलि तुल पड़ता है। मुनिगण अहिंसक निरोध करते और अनशन माड़ बैठते हैं। सारे जैनी भी यही करते हैं। राजा बलिका अत्याचार निष्प्रभ होता है और अहिंसाकी विजय होती है। जैन साधु शत्रुसे भी बैर नहीं रखते।

किन्तु लोकप्रवाहमें बहते हुये सब ही प्राणियोंके लिये पूर्ण अहिंसक वीर बनना संभव नहीं है। उनके लिये अहिंसा धर्मको आंशिक रूपमें पालनेका विधान किया गया है। ऐसे गृहस्थ केवल संकल्प करके किसी भी जीवकी हत्या नहीं करते हैं-जानबूझकर किसी जीवको नहीं मारते हैं। वैसे घर-गृहस्थके निर्वाहमें जो हिंसा होती है, उससे वह विलग नहीं रहते। इसी तरह उद्योग धन्देमें-अर्थोपार्जनमें जीवोंको जो दुःख पहुंचता है और हिंसा होती है, उससे भी वह नहीं बच पाता है। साथ ही आततायीसे अपनी रक्षा करने अथवा धर्मका प्रकाश फैलानेके लिये कदाचित् पापियोंका संहार होजावे तो उससे वह अहिंसक पीछे नहीं हटता है। वह निःशङ्क होकर परिस्थितिका मुकाबिला करता है, क्योंकि उसका ध्येय मारना नहीं, बल्कि धर्मका प्रकाश करना होता है। जीवन संघर्षमें उसका ध्यान केवल यह रहता है कि जीवनके निर्वाहमें उसके द्वारा कमसे कम हिंसा हो। उसकी यह दयामय भावना ही उसके अहिंसा व्रतका मूल मंत्र है। इस अहिंसाणुव्रतका पालन करते हुये जैनी राजाओंने सराहनीय शासन किया है। जैनी सेनापतियोंने महान् युद्धोंमें अपने भुजविक्रमका परिचय दिया है और जैन व्यापारियोंने वक्त पड़ने पर देशके लिये धन ही नहीं दिया अपने शौर्यको भी प्रगट किया है।

प्रस्तुत 'इतिहास' के पूर्व प्रकाशित भागोंमें वर्णित जैन वीरोंका चरित्र इस व्याख्यानका जीवित प्रमाण है। प्रस्तुत खण्डसे भी जैनी अहिंसक वीरोंका शौर्य और सुशासन प्रमाणित होता है। यह निश्चित है कि जैनी राजाओंके शासनकालमें

देश समृद्धिशाली और धर्मपरायण रहा है। जैन इतिहासके लिये गौरवकी बात यह है कि भारत पर विदेशी अधिकारको नष्ट करनेवाले यूनानियोंको भारतसे बाहर निकालनेवाले जैनी ही राजा थे। मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त जैनाचार्य भद्रबाहुजीके शिष्य थे और अन्तमें जैन मुनि होगये थे, जिन्होंने यूनानी बादशाह सिल्यूकसको बुरी तरह हरा कर भारतके पश्चिमोत्तर सीमाप्रांतसे बाहर भगा दिया था। उल्टे सिल्यूकसकी कन्यासे उनका ब्याह हुआ था। इसी तरह कलिंग चक्रवर्ती जैन सम्राट् खारबेलने यूनानी बादशाह दमत्रथको भारतमें ठहरने नहीं दिया था। उत्तर भारत और दक्षिणमें मुसलमानोंसे सफल मोरचा लेनेवाले सुहृद्ध्वज और बैचप्प भी जैनी थे। सारांशतः जैन शौर्य न केवल अध्यात्मिक क्षेत्रमें ही सीमित रहा, बल्कि लौकिक जीवनके कर्मक्षेत्रमें भी उसका अद्वितीय प्रदर्शन हुआ है।

खेद है कि जैन इतिहासके अभावमें लोगोंने जैनियोंके विषयमें भ्रान्तिपूर्ण मत गढ़ लिये हैं। ऐसे महानुभाव यदि इस 'संक्षिप्त जैन इतिहास' के ही सब भागोंको पढ़नेका कष्ट उठायेंगे तो वह जैनियोंके अपूर्व राष्ट्रहित सम्बन्धी वीरतामय कार्योंका परिचय पा लेंगे। अहिंसा और सत्य ही लोक कल्याण कर्ता है और साधारण जनतामें उनके प्रति श्रद्धा उत्पन्न करानेके लिये अहिंसक वीरोंका इतिहास प्रकाशमें लाना आवश्यक ही है।

वास्तवमें भारतके अधःपतनका मूल कारण यहांकी शासक जातियोंमें स्वार्थ, मान और अविश्वास जैसे दुर्गुणोंका

भारतके पतनके मुख्य कारण।

प्राबल्य ही था। महाभारत-युद्धके साथ ही भारत अपनी राष्ट्रहितकी ऐक्य-भावनाको तिलाञ्जलि दे बैठा। भ० महावीरने इस दुर्भावनाका अपने अहिंसामई उपदेशसे प्राय: अन्त ही कर दिया और भारतको सुसंगठित बनानेके लिये लोगोंको सावधान किया। परिणामत: मगधके मौर्य सम्राटोंने भारतका एकीकरण एवं राष्ट्रीय संगठन करनेमें सफलता पाई। उन्होंने भारतसे विदेशियोंको बाहर निकाल फेंका और अफगानिस्तान एवं ईरान तक अपना राज्य-विस्तार किया। किन्तु भारतका भाग्य तो महाभारत-युद्धसे ही राहु-ग्रस्त होचुका था। नवोत्थानकी यह सुवर्णवेला अधिक समय तक न रही। सब ही अपना अपना स्वार्थ साधनेमें लिप्त हो गये। विदेशियोंने भारतके इस अनैक्यसे लाभ उठाया और उसकी स्वाधीनताको अपहरण किया। संक्षेपमें भारत-पतनका मुख्य कारण यही है। यवनों, शकों, हूणों और मुसलमानोंके आक्रमण समयकी घटनाओंका अवलोकन करनेसे यही परिणाम घटित होता है कि अपने ही लोगोंके स्वार्थ और देशद्रोहके कारण भारतका राजत्व नष्ट हुआ। जैनधर्म और उसका अहिंसा सिद्धान्त तो व्यर्थ ही बदनाम किये जाते हैं।[1]

प्रस्तुत खंड।

प्रस्तुत खंडमें दक्षिण भारतपर मध्यकालमें शासन करनेवाले चालुक्य, राष्ट्रकूट आदि क्षत्रिय राजाओंके शासनकालमें जैनधर्मकी क्या स्थिति रही और

१ विशेषके लिये "जैन सिद्धान्त भास्कर" भा० ६ किरण २ में प्रगट हुआ हमारा लेख देखो।

उसकी प्रधानतामें राज्य और राष्ट्रकी कैसी उन्नति हुई ? इन बातोंका दिग्दर्शन कराना इष्ट है। इस विवेचनके द्वारा यह व्याख्या और भी स्पष्ट हो जायगी कि जैनधर्मके वातावरणमें जहांपर राजा जैनी हो और प्रजा जैनी हो वहांपर सुख, शांति और समृद्धिका दौरदौरा होता है। प्रत्येक प्राणी जैनी राज्यमें अभय होता है और वह सदृष्टि और सद् ज्ञानको पाकर अपना आत्मकल्याण करनेमें निरत रहता है। यह है विशेषता जैनत्वके प्राबल्यकी।

यह पहले बताया जाचुका है कि दक्षिण भारतका इतिहास दो भागोंमें विभक्त है। विंध्याचलके निकटवर्ती दक्षिण पथका ऐतिहासिक वर्णन है और दूसरा सुदूर दक्षिण देशोंका इतिहास है। चालुक्य और राष्ट्रकूट राजाओंका सम्बन्ध दक्षिणपथसे रहा है। उनके समयवर्ती राजा सुदूर दक्षिणमें पल्लव और चोलवंशके थे। उस खण्डमें इन्हींका ऐतिहासिक परिचय करानेको प्रयत्न किया गया है। इन राजवंशोंका राजत्वकाल निम्न प्रकार विभक्त है:—

१—प्रारंभिक चालुक्यकाल (इस्वी ५ वींसे ७ वीं शताब्दि)

२—राष्ट्रकूटकाल (ई० ७वींसे १३ वीं शताब्दि तक)

३—अंतिम चालुक्यकाल (ई० १० वींसे १४ वीं श० तक)

दक्षिणपथके राजनैतिक कालका मुख्य विभाजन यही होसक्ता है। चालुक्य और राष्ट्रकूट राजवंश प्रबल थे, इस कारण उन्हींके नामोंकी अपेक्षा कालविभाग किये गये हैं। वैसे इस अंतराल कालमें अन्य राजवंश भी उल्लेखनीय हुये हैं, जिनका वर्णन भी यथावसर लिखा जाना उपयुक्त है। जैसे राष्ट्रकूटकालमें मैसूरका गंगवंश और

चालुक्यकालमें होयसल वंशके राजाओंके शासनकाल दक्षिणभारतके इतिहासमें अपना खास स्थान रखते हैं। गंगसाम्राज्यका इतिहास द्वितीय खंडमें लिखा जाचुका है। होयसल वंशका इतिहास लिखा जाना शेष है, जो अगले खंडमें लिखा जायगा। इसी कालमें कलचूरिवंशके राजाओंका अल्पकालवर्ती शासन भी उल्लेखनीय है। इसी प्रकार सुदूर दक्षिणमें पल्लव और चोलवंशोंके राजाओंने इसी कालमें अर्थात् ५वीं शताब्दिसे १४ वीं शताब्दि तक राज्य किया था। पहले ही पाठकगण चालुक्य राज्यकालका इतिहास पढ़िये।

दक्षिण भारतका मध्यकालीन इतिहास।

(१)

प्रारंभिक–

चालुक्य-काल।

(पूर्वीय चालुक्योंके उल्लेख सहित)

संक्षिप्त जैन इतिहास।

चालुक्य-राजवंश ।

(प्रारंभिक और पूर्वीय चालुक्य)

चालुक्य राजवंश दक्षिण भारतका एक प्रबल प्राचीन राजकुल था। कहते हैं कि इस राजवंशके पूर्वज उत्तर

चालुक्योंकी उत्पत्ति।

भारतसे दक्षिणमें जाकर शासनाधिकारी हुये थे । प्राचीनतम शिलालेखोंमें इस वंशका उल्लेख चल्क्य, चलिक्य और चलुक्य इत्यादि नामोंसे हुआ है, किन्तु इनकी प्रसिद्धि 'चालुक्य' नामसे ही विशेष रही है[1]। बिल्हणके 'विक्रमाङ्कचरित्र' में चालुक्योंकी उत्पत्ति ब्रह्माके चुलुक (जलपात्र) से हुई बताई गई है; किन्तु शिलालेखोंमें उनके प्राचीन नाम चल्क्य, चलिक्य आदि बिल्हणके विवरणको कल्पित ठहराते हैं। चालुक्योंके किसी भी प्राचीन शिलालेखमें ब्रह्माके चुलुकसे चालुक्य वंशोत्पत्तिकी कथा नहीं लिखी है। पूर्वीय चालुक्योंके शिलालेखोंमें लिखा है[2]—कि चालुक्य राजगण चन्द्रवंशी क्षत्रिय थे और उनकी साठ पीढ़ियोंने अयोध्यामें राज्य किया था। चालुक्यवंशके पहले राजाका नाम बुद्ध था। उनके पश्चात् क्रमशः पुरूरवस, आयु, नहुष, ययाति, पुरु, जन्मे-जय, प्राचीश, सैन्ययाति हयपति, सार्वभौम, जयसेन, महाभौम, ऐशानक, क्रोधानन, देवकि, ऋभुक, ऋक्षक, मतिवर, कात्यायन, नील, दुष्यन्त, भरत, भूमन्यु, हस्तिन्, विरोचन, अजमील्ह, संवरण, सुधन्वन्, परीक्षित, भीमसेन, प्रीदपन, सन्तनु, विचित्रवीर्य, पाण्डुराज, पाण्डव, अभिमन्यु,

---

१ हिंविको० ७।३१४। २ इंडिका० ८। २१-२२

परीक्षित, जन्मेजय, क्षेमुक, नरवाहन, शतानीक और उदयनने राज्य किया । उदयनके पश्चात् अयोध्याके राजसिंहासनपर इस वंशके ५९ अन्य राजाओंने विराजित होकर शासनसूत्र संभाला था । पश्चात् इसी वंशके विजयादित्य नामक राजाको अयोध्या छोड़कर दक्षिणापथ जाना पड़ा । विजयादित्यने त्रिलोचन पल्लवके राज्य पर आक्रमण किया । किंतु विजयलक्ष्मी विजयादित्यसे रुष्ट हो चुकी थी । विजय भी उसके वियोगको अधिक सह न सके । इसी युद्धमें वह वीरगतिको प्राप्त हुये । उनकी गर्भवती पट्टरानी असहाय रह गई, परन्तु उसने साहस नहीं छोड़ा । वह अपने राजमन्त्रियों और कुल पुरोहितके साथ जाकर मुडिवेमुके अग्रहारमें छिप रही थी ।

विष्णुभट्ट सोमयाजिन् नामक सन्यासी वहां रहता था । उसने इस राजपरिवारकी उस आड़े समयमें खूब सहायता की । इसी अग्रहारमें पट्टरानीने एक प्रतापी पुत्र जन्मा, जो उपरांत विष्णुवर्द्धन नामसे प्रसिद्ध हुआ । विष्णुवर्द्धनमें जन्मसे ही एक महान शास्त्रकी क्षमता छुपी हुई थी । युवा होते होते उसने सब ही राजोचित गुण प्राप्त कर लिये और वह एक वीर पराक्रमी योद्धा हुये । विष्णुवर्द्धनने कदम्ब, गंग आदि राजाओंको परास्त करके अपने राज्यकी स्थापना दक्षिणापथमें की । यहींसे दक्षिणके चालुक्यवंशका प्रारम्भ हुआ ।

इस विवरणसे स्पष्ट है कि चालुक्य राजवंशकी उत्पत्ति उत्तर भारतके चन्द्रवंशी क्षत्रियोंसे हुई थी । और अयोध्यासे आकर वह दक्षिणापथमें राज्याधिकारी हुये थे । संभव है कि मगध साम्राज्यके छिन्न भिन्न होने पर शतानीक और उदयनके वंशज विजयादिक किसी

अत्याचारी राजाके सम्मुख अपने राजत्वको स्थिर नहीं रख सकनेके कारण राजच्युत होगये * और दक्षिण भारतमें अपने भाग्यकी परीक्षा करने आये; परन्तु वह स्वयं नहीं, उनका पुत्र अपना राज्य स्थापित करनेमें सफल-मनोरथ हुआ।

विष्णुवर्द्धनने चालुक्य नामके पर्वतपर नन्दगिरि, कुमार नारायण और मातृकाओंको परितृप्त करके राजछत्र धारण किया था। उन्होंने श्वेतछत्र, शङ्ख, पञ्चमहाशब्द पालिकेतन, प्रतिठका, बराहलाञ्छन, मयूरासन, मकर, तोरण और गङ्गा यमुनादि चिन्होंसे विभूषित होकर अक्षुण्ण भावसे दक्षिण भारतका शासन किया था। हमारा अनुमान है कि चलुक्य पर्वतपर राजत्व प्राप्त करनेके कारण ही अयोध्याका यह क्षत्रिय चंद्रवंश 'चालुक्य' नामसे प्रख्यात हुआ।

विष्णुवर्द्धनका दूसरा नाम 'रणराग' था[1]। प्रकृतिने ही रणरागको एक महान् नृपके गुणोंसे समलंकृत किया था।

विष्णुवर्द्धन रणराग। उसका पाणिग्रहण पल्लव-राजकुमारीके साथ हुआ था। चालुक्य राज्यके संस्थापकका उत्तराधिकारी उनका पुत्र विजयादित्य हुआ[2]। किंतु चालुक्य राजवंशकी प्रसिद्धि और समृद्धिका विजयादित्यके पुत्र पुलिकेशी वल्लभके भाग्यमें बदा था। उन्होंने शक संवत् ४११ (४८९ ई०) में राजसिंहासनपर आरूढ़ होकर अपना शौर्य प्रकट किया था।

पहिले चालुक्यराजाओंकी राजधानी इन्दुकान्ति नगरी थी; परन्तु

---

* संभवतः इन्हींका अपर नाम जयसिंह था। १ हिंविका०, ७-३१५, २ इंहिका०, ८-२१

पुलकेशी प्रथम। पुलिकेशीने पल्लवोंको युद्धमें परास्त करके वातापी नगरी पर अधिकार जमाया था। उसने वातापीको ही अपनी राजधानी नियत किया था[1]। बीजापुर जिलेका बादामी ही प्राचीन वातापीपुर है। यह राजा वैदिक धर्मका उपासक था।

कीर्तिवर्मा। पुलकेशिका पुत्र कीर्तिवर्मा चालुक्यवंशका दूसरा उल्लेखनीय राजा हुआ। सन् ५६२ ई०में उनको राज्याधिकार प्राप्त हुआ था। उन्होंने नलों, मौर्यों और कदम्ब राजाओंको पराजित किया था। उनका विवाह सेन्द्रक कुलके राजा श्रीवल्लभ सेनानन्दकी बहनके साथ हुआ था[2]।

इस रानीसे उनके (१) पुलकेशी द्वितीय, (२) कुब्ज–विष्णुवर्धन और (३) जयसिंहवर्म्भन नामक तीन पुत्र हुये थे।

मङ्गलीश। किन्तु कीर्तिवर्माकी मृत्युके उत्तराधिकारी उनके पुत्र अल्पवयस्क थे; इस कारणवश उनके उत्तराधिकारी उनके कनिष्ठ भ्राता मङ्गलीश हुये थे। उन्होंने सन् ५९७ से ६०८ ई० तक राज्य किया था। वह एक बलवान शासक थे और उन्होंने कई वैष्णव मंदिर व मूर्तियां निर्मापित कराई थीं। मङ्गलीशकी इच्छा थी कि उनके बाद चालुक्य राज्यका अधिकारी उनका पुत्र हो। किन्तु कीर्तिर्माके पुत्र पुलकेशीको यह असह्य था। परिणामतः गृहयुद्ध छिड़ गया और मङ्गलीश उसमें काम आया।

---

१ हिंविको०, ७–३१५, २ इंहिका०, ८–२४५.

पुलकेशी द्वितीय।

अब पुलकेशी, जिसका दूसरा नाम जयसिंह सत्याश्रय था, राजा हुआ। निस्सन्देह पुलकेशी सत्याश्रयके समान प्रतापी राजा चालुक्य वंशमें दूसरा नहीं हुआ। ज्यों ही वह राज्यसिंहासनारूढ़ हुआ कि उसे एक दूसरी आपदाको शमन करनेके लिये अपना शौर्य प्रगट करना पड़ा। बात यह हुई कि चालुक्य गृहयुद्धसे लाभ उठाकर अप्पायिक और गोबिन्द नामक राजाओंने चालुक्य राज्यपर धावा बोल दिया था। पुलकेशी इस आक्रमणसे विचलित नहीं हुये। उन्होंने चालुक्य सेनाका नेतृत्व ग्रहण किया और शत्रुको अपनी पीठ दिखानेके लिये बाध्य किया! पुलकेशीने बनवासी और पुरीका घेरा डाला था। उन्होंने कौशल, मालव, गुजरात, महाराष्ट्र, लाट, कोङ्कण, काञ्ची, कलिङ्ग, आदि देशोंको विजय करके चालुक्य राज्यका विस्तार बढ़ाया था। उन्होंने अपने छोटे भाई विष्णुवर्द्धनको युवराजपद प्रदान करके उन्हें एक प्रांतका शासक नियत किया था। जिन्होंने ऐहोलेके पल्लवोंको पराजित करके वेङ्गीनगरपर अधिकार जमाया था। यही उनकी राजधानी थी।

शिलालेखमें लिखा है कि "जिन राजाधिराज हर्षके पादपद्मोंमें सैकड़ों राजा नमते थे, उन महाप्रतापी हर्षराजको भी पुलकेशीने परास्त किया था। जब इन राजा पुलकेशी सत्याश्रयने अपने उत्साह, प्रभुत्व व मंत्रशक्तिसे सर्व निकटके देशोंको जीत लिया और परास्त राजाओंको विसर्जन कर दिया तथा देव और ब्राह्मणोंको आराधित किया एवं अपनी बातापी नगरीमें प्रवेश किया, तब उसने सर्व जगतको

ऐसे नगरके समान शासित किया जिसके चारों तरफ नृत्य करते हुये समुद्रके जलसे पूरित नील-खाई बह रही हो[1]!" इससे स्पष्ट है कि सत्याश्रयने सारे पश्चिमी और दक्षिणी भारतवर्षपर अधिकार प्राप्त कर लिया था। यह राजा वीर पराक्रमी होनेके साथ ही विद्यारसिक और विद्वानोंका आश्रयदाता था। वैसे तो कई जैन विद्वानोंने उनसे सम्मान प्राप्त किया था, परन्तु कालिदास और भारविके समान कीर्ति प्राप्त दिगम्बर जैन पंडित रविकीर्ति उनके विशेष अनुग्रहपात्र थे। चीनी परिव्राजक हुनत्सांगने उनकी राज्यसमृद्धि और रीतिनीतिका खूब अच्छा वर्णन लिखा था। कहते हैं कि फारसके बादशाह खुसरो (दूसरे) के साथ इनका आदान-प्रदानका व्यवहार था। तरह तरहकी भेंट लेकर दूत आते और जाते थे[2]। निस्सन्देह यह राजा सोमवंश मानव्य गोत्रके रत्न और अनुपम वीर थे। 'समस्तभुवनाश्रय,' श्री पृथिवीवल्लभ, महाराजाधिराज, परमेश्वर-परम भट्टारक, सत्याश्रय कुल-तिलक, चालुक्याभरणादि उनकी उपाधियां थीं।

आदित्यवर्मा, चंद्रादित्य और विक्रमादित्य।

सत्याश्रयके पश्चात् चालुक्य राज्यके अधिकारी आदित्यवर्मा हुये, परन्तु पल्लवराजसे वह अपनी रक्षा नहीं कर सके। वह अपना सारा राज्य खो बैठे। केवल कोङ्कण प्रदेशपर शासन करनेके लिये बाध्य हुये[3]। उनके उत्तराधिकारी चन्द्रादित्य थे, जिनकी महादेवीका नाम विजयमहादेवी था। चन्द्रादित्यने अपने पूर्वजोंके राज्यको पुनः प्राप्त करनेका असफल

१ वप्राजैस्मा०, पृष्ठ १००। २ हिंविको ७। ३१६। ३ पूर्व।

उद्योग किया था[१]। किन्तु उनके भाई विक्रमादित्य प्रथम उनकी इच्छाको पूर्ण करनेमें सफल हुये थे, उन्होंने पल्लवोंकी राजधानी काञ्चीपुर पर आक्रमण करके बदला लिया था—पल्लवराजका मस्तक अपने पैरोंमें नमवाया था। देवशक्ति आदि सेन्द्रकवंशी राजाओंने उसके साथ युद्धमें भाग लिया था। वह उनके महासामन्त थे। पल्लवोंके अतिरिक्त पाण्ड्य, चोल, केरल, कलभ्रादि दक्षिणी राजवंशोंको भी उन्होंने परास्त किया था। यह राजा अपने शौर्य और भुजविक्रमके लिये प्रसिद्ध था। इनकी विशेष उपाधि 'रणरसिक' थी[२]।

विनयादित्य।

विक्रमादित्यके पुत्रका नाम युद्धमल्ल अथवा विनयादित्य था। उनके पश्चात् वही राजा हुये। पल्लवोंको परास्त करनेके लिये उन्होंने काञ्चीपर आक्रमण किया था। और पल्लवपतिको वह कैदी बना लाये थे। निस्सन्देह विनयादित्य एक महापराक्रमी राजा थे। उन्होंने चोल, पाण्ड्य, चेरादि राजाओंको हराकर समस्त दक्षिण भारत पर अपना आधिपत्य जमाया था। उनकी वीर गाथाको सुनकर कवेर, पारसिक, सिंहल आदि राजाओंने उनकी आन मानी थी और उनकी सेनामें भेंटें भेजीं थीं। कहते हैं कि उत्तर भारतके राजाओंको भी निःशेष करके उन्होंने उनसे 'पालिध्वज' प्राप्त किया था।[३]

विजयादित्य।

विनयादित्यके उत्तराधिकारी उनके पुत्र विजयादित्य हुये थे। उन्होंने दक्षिणभारतमें चालुक्योंके अवशेष शत्रुओंको परास्त किया था। साथ ही उत्तर भारतके राजाओंसे भी उन्होंने मोरचा लिया

१–मैकु० पृष्ठ ६३। २ हिंविको ७।३१६ व मैकु ६३। १ मैकु० पृष्ठ ६३।

था। उनकी वीरताके सामने किसी भी राजाकी दाल नहीं गली थी। उल्टे उन्हें अपने प्राण बचानेके लाले पड़े थे। पालिध्वजके अतिरिक्त गंगा–यमुनाके चिह्न उन्होंने उनसे प्राप्त किये थे। वत्सराज अपने प्राणोंसे ही हाथ धो बैठे थे।

विक्रमादित्य द्वितीय।

इनके पुत्र विक्रमादित्य द्वितीय उपरान्त चालुक्य राजसिंहासनके अधिकारी हुये। वह भी अपने पिताके समान प्रतापी राजा थे। उन्होंने तीन दफा पल्लवोंकी राजधानी काञ्चीपर आक्रमण करके नन्दिपोतवर्माका विनाश किया था। वह छत्र–ध्वजादि राजचिह्नोंका मोह छोड़कर अपने प्राण लेकर भाग गया था। विजयी विक्रमादित्यने काञ्चिपुरमें प्रवेश किया और नगरमें दीन दुःखियोंको सुखी बनाया। नरसिंहपोतवर्माके बनाये हुये 'राजसिंहेश्वर' आदि मंदिरोंको स्वर्णदान दिया था। पश्चात् पाण्डय, चोल, कलभ्र आदि राजाओंको भी नष्ट किया था। और दक्षिण समुद्रतटपर अपनी दिग्विजयका कीर्तिस्तंभ स्थापित किया था।

किर्तिवर्म्मा द्वितीय।

विक्रमादित्यके पश्चात् उनके पुत्र कीर्तिवर्म्मा द्वितीय राजगद्दीपर बैठे थे। उन्होंने भी चालुक्योंके चिर शत्रु पल्लवराजपर आक्रमण किया और सार्वभौमकी उपाधि प्राप्त की थी[1]। यद्यपि दक्षिणमें यह विजयी हुये; परन्तु उत्तर पश्चिममें राष्ट्रकूट वंशके राजाओंने उन्हें हराया और विस्तृत चालुक्य राज्यपर अधिकार जमाया था। राष्ट्रकूट

---

१ मैकु० ६३–६४।

राजाओंने लगातार दोसौ वर्षों तक राज्य किया। इसके पश्चात् चालुक्य राज पुनः अभ्युदयको प्राप्त हुये।[१]

पूर्वीय चालुक्य।

किन्तु इस अन्तरालकालमें बेङ्गिके पूर्वीय चालुक्यगण अपना राज्यशासन करते रहनेमें सफल हुये थे। हर्ष विजेता पुलकेशी सत्याश्रयके छोटे भाई कुब्ज विष्णुवर्द्धन ही प्राच्य चालुक्य वंशके आदि पुरुष थे। पहले वह अपने बड़े भाईकी आधीनतामें चालुक्य साम्राज्यके पूर्व भागका शासन करते थे; किंतु अन्तमें स्वाधीनरूपमें राज्य करने लगे थे। इस राज्य वंशमें अनेक प्रतापी राजा हुये, जो ११ वीं शताब्दि तक इस वंशकी कीर्तिको जीवित रख सके थे।[२]

चालुक्य नरेश और जैनधर्म।

चालुक्य वंशके उन प्रारंभिक और पूर्वीय राजाओंमें यद्यपि अधिकांश राजा वैदिक धर्मानुयायी थे, परन्तु उन्होंने आर्य-मर्यादाके अनुकूल राजत्वको खूब निवाहा था—वे अन्य धर्मोंके प्रति भी समुदार थे[3]। अनेक चालुक्य राजाओंने जैन धर्मको आश्रय दिया था। बादामीके प्रारम्भिक चालुक्य राजाओंके समयमें तो जैन धर्मका विशेष उत्कर्ष हुआ था। श्रवणबेल्गोलके एक

---

१ मैकु० पृ० ६४। २ हिंविको०।

3-" We get many glimpses of the Jain religion in inscriptions relating to the Chalukyas, which distinctly reveal their patronage of that faith."

—Vaidya Medieaval Hindu India, I. 273-4.

4-" Jainism came into prominence under the Early Chalukyas of Badami." —Early History of Deccan. I 59.

शिलालेखमें श्री गुणभद्राचार्यके विषयमें निम्नलिखित उल्लेख मिलता है:-[1]

मलधारिमुनीन्द्रोऽसौ गुणचन्द्राभिधानकः।
बलिपुरे मल्लिकामोदशांतीशचरणार्चकः ॥ २० ॥

इसमें उन्हें बलिपुरमें मल्लिकामोद शांतीशका चरणार्चक कहा गया है। चालुक्य नरेश **जयसिंह प्रथम**की एक उपाधि मल्लिकामोद है। इसी कारण विद्वानोंका यह अनुमान है कि उपर्युक्त श्लोकमें जयसिंह प्रथमका उल्लेख है[2]। उनके द्वारा गुणचन्द्राचार्यका आदर होना संभव है।

बलिपुरके शांतीश्वर भगवानकी प्रतिमासे उनका सम्बन्ध था। यही कारण है कि उस प्रतिमाको 'मल्लिकामोद शांतीश' कहा है। संभव है, शांतीश्वरका वह मंदिर नृप जयसिंहके आश्रयमें बना हो। जयसिंहके पुत्र **रणराग** और पौत्र पुलकेशी भी जैनोंके आश्रयदाता थे। रणरागके समय दुर्गशक्तिने पुलिगेरे (लक्ष्मेश्वर)के जिनालयको दान दिया था। **दुर्गशक्ति** नागवंशकी शाखा सेन्द्रककुलमें हुये प्रसिद्ध राजा विजयशक्तिका पौत्र और कुन्दशक्तिका पुत्र था। सेन्द्रकवंशके राजा चालुक्यके सहायक सामन्त और जिनेन्द्रभगवानके भक्त थे[3]। रणराग देवसम प्रभावशाली और पृथ्वीके अकेलेस्वामी थे[4]। उन्होंने अपने सामन्तके इस दानको सराहा था। चालुक्य नरेश **पुलकेशीने** स्वयं जैनोंके आल्लनगरमें स्थित जिनालयको दान दिया था[5]। उनका यह दान जैन धर्मके प्रति उनकी हार्दिक भक्तिका द्योतक है। जैन

१ जैशिसं०, पृष्ठ ११८, २ जैसाइं०, पृ० ६१, ३ वंप्राजैस्मा०, पृ० १२४, ४ 'दिव्यानुभावो जगदेकनाथः'। ५ जैसा इं०, पृ० ६१,

पंडित रविकीर्तिने उन्हें धर्म अर्थ और कामवर्गकी साधनामें अद्वितीय बताया है[1]। इनके उत्तराधिकारी **कीर्तिवर्म्मा** भी जैनोंपर सदय हुये थे और उन्होंने जैन मुनियोंको दान दिया था[2]। वह परस्त्री विरक्त महा योद्धा थे[3]। कीर्तिवर्माके पुत्र **पुलकेशी द्वितीय** भी जैन गुरुओंके भक्त थे। उनके अध्यात्म गुरु जैन निर्वद्य पंडित थे। जिनका अपरनाम उदयदेव था। पुलकेशिने इन जैन पंडितको दान भी दिया था। उदयदेव मूलसंघ, देवगणके गुरु पूज्यपादके श्रावक शिष्य थे[4]। पुलकेशिके राज्यमें आर्यपुर (आय्यबले=एहोले) नामका एक प्रधान नगर था। उस नगरमें पुलकेशिके विशेष कृपापात्र जैन पंडित रविकीर्तिने एक सुंदर जिनमन्दिर निर्माण कराया था, जो अब 'मेघूतीका मंदिर' कहलाता है। इस मंदिरकी प्रशस्तिके लेखक स्वयं रविकीर्ति हैं, जिसमें लिखा है कि उस रविकीर्तिने सत्याश्रयके महान प्रसादको प्राप्त किया था और अपनी कवितासे कालिदास और भैरविके यशको प्राप्त किया था। यह रविकीर्ति पूर्ण विवेकी और जैन धर्मके परम भक्त थे। शक सं० ५०६ में उन्होंने उपर्युक्त मंदिर बनवाकर तैयार किया था। इसकी गुफामें भ० महावीरकी पल्यंकासन प्रतिमा पूज्यनीय है। साथमें और भी प्रतिमायें हैं[5]। गर्ज यह कि पुलकेशिके राजत्वमें जैनोंका सन्मान विशेष हुआ था।

चालुक्यनरेश विजयादित्यके पुत्र **विक्रमादित्यके** हृदयमें भी

---

१ यत्त्रिवर्गपदवीमलं क्षितौ नानुगन्तुमधुनापि राजकम्'।
२ जैसाइं०, पृ० ६१। (Dharwar Inscriptiion)
३ 'परदारनिवृत्तचित्तवृत्तेरपि धीर्यस्य रिपुश्रियानुकृष्टा'।
४ जैसाइं०, पृ० ६२-६३। ५ बंप्राजस्मा०, पृ० ८९-९५।

जैनधर्मके प्रति अनुराग था । उनकी दानशीलतासे जैनायतन अछूते न बचे थे । उन्होंने एक जीर्ण-शीर्ण जिनमंदिरका जीर्णोद्धार कराया था । भक्तवत्सल जैनी उनके महान व्यक्तित्वमें धर्मकी प्रतिभाका आभास पाते थे और उसकी प्रेरणासे वह उनके पास धर्मोद्योतकी वार्तायें लिये चले आते थे । नरेश विक्रमादित्य उन्हें निराश नहीं करते थे । बाहुबलि श्रेष्ठीने आकर उनसे निवेदन किया कि पुलिकेरेका संखतीर्थ जिनालय और श्वेत जिनालयकी अवस्था सोचनीय है । इस बातको सुनते ही उन नरेशने आज्ञा दी कि दोनों मंदिरोंका जीर्णोद्धार कराया जाय और उनका जीर्णोद्धार कराया भी गया[1] । इस अवसर पर श्री रामचंद्राचार्यके गृहस्थ शिष्य विजयदेव पंडिताचार्यको तथा देवगणके सिद्धांत पारगामी श्री देवेन्द्र भट्टारकके प्रशिष्य जयदेव पंडितको दान दिया गया । इस प्रकार प्रारम्भिक चालुक्य नरेशोंका आश्रय पाकर जैन धर्म समृद्धिशाली रहा । ऐसा मालूम होता है कि इस समय जैन संघमें कोई परिवर्तन हुआ था, जिसके अनुसार दिगम्बर आचार्योंके स्थान पर गृहस्थ पंडिताचार्य नियुक्त हुये थे, जो मंदिरोंके लिये दान ग्रहण करते थे । संभव है कि मुनिजनोंमें शिथिलाचार अथवा आडंबरकी आशंकाको लक्ष्य करके तत्कालीन चालुक्य राज्यस्थ दिगम्बर जैन संघने यह नियम बनाया हो कि दिगम्बराचार्य मंदिरोंके लिये भूमि आदिका दान न स्वयं ग्रहण करें और न उसके प्रबंधादिमें अपने अमूल्य समयको बरबाद करें, बल्कि यह काम उनके गृहस्थ शिष्योंके आधीन रहे—वही दान लें और उसकी व्यवस्था भी रक्खें ।

१ जैसा इं०, पृ० ६३ ।

पूर्वीय चालुक्य और जैनधर्म।

चालुक्योंकी पूर्वीय शाखाके राजा कंठिकविजयादित्यको राष्ट्रकूटोंने परास्त करके अपना कैदी बना लिया था। भाग्यवशात् विजयादित्य राष्ट्रकूट कारावाससे भाग निकला। वह पुलिगेरे (लक्ष्मेश्वर)[१] नामक स्थानपर पहुंचा, जहां चालुक्य वंशके ही राजा शासनाधिकारी थे। उस समय बड्डुगका पुत्र चालुक्य अरिकेसरी द्वितीय राजसिंहासनारूढ़ थे। यद्यपि अरिकेसरी राष्ट्रकूट राजाओंके सामन्त थे, परन्तु इस बातकी परवाह न करके उन्होंने विजयादित्यको शरणमें लिया। 'शरणागतकी रक्षा करना राजत्वको निभाना है', यह बात वह खूब जानते थे। इसीलिये उन्होंने राष्ट्रकूट राजा गोविन्द चतुर्थके रोषको मोल लेकर इस आदर्शको निभाया। यह वीर नरेश अपने पूर्वजोंके समान जैनधर्मका भक्त था। उनके सेनापति और राजमंत्री प्रसिद्ध जैनकवि पम्प थे, जिन्होंने सन् ९४१ ई० में 'पम्प–रामायण' रची थी।[३] पम्पने लिखा है कि 'अरिकेसरी शरणागतकी रक्षाके लिये शक्तिके आगार थे। उन्होंने विजयादित्यको अभय बनाया था।' कवि पम्पका जन्म सन् ९०२ ई० में वेङ्गि नगरके एक पुरोहितके घर हुआ था। वह पुरोहित जैनधर्ममें दीक्षित हुये थे। कवि पम्पने 'आदिपुराण' और 'भारत' नामक ग्रन्थ भी रचे थे। कन्नड़ साहित्यमें यह रचनायें अद्वितीय हैं[४]। अरिकेसरीके

---

१ लक्ष्मेश्वर बम्बई प्रांतकी मिरज रियासतमें है। २ इंहिक्वा०, मा० ११ पृ० ३४। ३ जैसाइं पृ० ६४। ४ एइं०, १३।–३२९ हिकलि० पृ० ३०।

आश्रयमें रहकर कवि पम्प सरस्वतीदेवीकी सरस आराधना करनेमें सफल हुये थे। उनकी गणना कन्नड़-साहित्यके तीन प्रमुख कवियोंमें है।

विमलादित्य।

चालुक्योंकी इस शाखामें यशोवर्मका पुत्र विमलादित्य नामक राजा भी जैन धर्मका भक्त था। गंगवंशी राजकुमार चाकिराजके उपदेशसे उन्होंने शनीश्चर ग्रहका दोष निवारण करनेके लिये एक जिनालयके लिये दान दिया था[1]।

पूर्वीय चालुक्योंके अन्य राजाओंका जैन धर्म-प्रेम।

पूर्वीय चालुक्यवंशी अवशेष राजाओंपर भी जैन धर्मका महत्व अपना प्रभाव रखता था; यद्यपि उनमें प्रायः सब ही राजा वैदिक धर्मानुयायी थे। विष्णुबर्द्धन तृतीयने शक सं० ६८४में जैन गुरु श्री कलिभद्राचार्यको भूमिदान दिया था[2]। यह एक उल्लेख ही उनकी समुदाय वृत्तिका द्योतक है। उनके पश्चात् चालुक्य नरेश अम्म द्वितीयने भी जैनियोंको अपनाया था और जैन मंदिरोंको दान दिया था[3]। इन राजाओंके अनेक राज्याधिकारी भी जैनी थे। दुर्गराज नामक एक जैनी राज्याधिकारीने आकर नृप अम्मसे निवेदन किया कि वह धर्मपुरीके निकट अवस्थित जिन मंदिरके लिये भूमिदान देवें। नृप अम्मने उनकी यह प्रार्थना स्वीकार की और उस जिन मंदिरके निर्वाहके लिये उन्होंने मडिय-

१ जसाइं०, पृ० ६४ 2 Ibid. P. 67. 3 Ibid.

पण्डि नामक ग्राम दान कर दिया[1]! इसीप्रकार विजयवाटिका (बेजवाड़ा) में अवस्थित जिनमंदिरोंके लिये भी उन्होंने दान दिया था। उनके दरबारमें पट्टवर्द्धिनी कुलकी **चामेक** नामक एक नृत्यकारिणी प्रसिद्ध

चामेक और अम्म द्वि०।

कलाविद् थी। सौभाग्यवश उसे जैनधर्मकी निकटता प्राप्त हुई थी और उसने जैनधर्मकी दीक्षा लेकर श्रावकके व्रत ग्रहण किये थे। नृप अम्मको वह अत्यन्त प्रिय थी। उसका सौन्दर्य अपूर्व था। वह जैनधर्मरूपी सागरके पूर्ण विकासके लिये कारणभूत थी। वह दया, दान आदि गुणोंकी आगार थी और विद्वज्जनकी संगतिमें उसे रस आता था। उसने जैनधर्मोद्योतके लिये 'सर्व लोकाश्रय-जिनभवन' नामका एक अतीव सुन्दर मंदिर बनवाया और उसके निर्वाहके लिये जैनाचार्य श्री अर्हनन्दिको उसने भूमिदान दिया! चामेक इस सुवर्ण अवसरपर नृप अम्मके पास पहुंची और उनसे बोली कि वह भी अपना आश्रय उस जिनभवनको प्रदान करें। नृप अम्मने उसकी प्रार्थना सहर्ष स्वीकारी और अपनी उपाधि 'सर्वलोका-श्रय' को मंदिरके नामके साथ जोड़कर अटूट भक्तिका परिचय दिया। श्रावकी चामेकने उस जिनालयके साथ एक आहार दानशाला भी स्थापित की, जिससे उसकी प्रसिद्धि विशेष हुई। वह जैन संघके अद्दकलिगाच्छ बलहरिगणसे सम्बन्धित अर्हनन्दिकी परम उपासिका थी[2]।

नृप अम्म द्वितीय एक महान् शासक थे। आठ वर्षकी नन्हीं

---

१ इंहिक्वा०, भा० ११ पृ० ४०। २ जैसाइं०, पृ० ६८ व इंहिक्वा०, भा० ११ पृ० ४०।

उम्रमें ही उन्हें युवराज-पद नसीब हुआ था।

अम्म द्वितीय। सन् ९४५ ई०में जब वह बारह वर्षके हुये, तब वह चालुक्य राजसिंहासन पर विराजमान हुये। उनका राज्याभिषेक हुआ। वह वेङ्गि और कलिङ्गके शासक कहलाये। शान्तिपूर्वक वह राज्य-शासन करने लगे। किन्तु सन् ९५६ ई०में राष्ट्रकूट राजा कृष्ण तृतीयके साथ बाडपने चालुक्य राज्यपर आक्रमण कर दिया। अम्म इस समय कलिङ्ग पर थे। वह राष्ट्रकूट आक्रमणके सामने अपने पैर जमाये न रहे। बाडपने वेङ्गिके राजसिंहासनको हथिया लिया। अम्मके लिये यह घटना असह्य थी। वह क्रोधावेशमें-बदला चुकानेकी नीयतसे कृष्णका मुकाबिला करनेके लिये आगे बढ़े, परन्तु वह उसमें असफल रहे। हठात् कलिङ्गमें ही रहकर उन्होंने धर्मनीतिके अनुसार चौदह वर्षों तक शासन किया। जैनधर्मकी प्रभावनाके लिये उन्होंने अनेक उल्लेखनीय कार्य किये थे, जिनका वर्णन पहले लिखा जा चुका है[1]।

इन्हीं अम्म नरेशके सेनापति जैनधर्मके अनुयायी वीरवर दुर्गराज थे। वह उस समयके प्रख्यात् योद्धा वीर

जैन वीर दुर्गराज। पाण्डुरंगके कुलको सुशोभित करते थे। उनके पिताका नाम विजयादित्य था और निरवद्य धवल उनके बाबा थे। निस्सन्देह उनका वंश वीरोंकी कीर्तिगरिमाका आगार था। इन नरपुंगवोंका आश्रय पाकर जैनधर्मकी पताका ऊँची फहरा रही थी। दुर्गराजके विषयमें कहा गया है कि

---

१ इंहिका०, भा० ११ पृ० ३८-४३।

"उनकी तलवार चालुक्य राज्यश्रीकी रक्षाके लिये निरन्तर मियानके बाहर रहती थी और उनका प्रसिद्ध वंश श्रेष्ठ महादेश बेङ्गिकी सेवामें निरत रहता था, उन्होंने एक अत्यन्त मनोहर सुकृतका भण्डार स्वरूप जिनमंदिर निर्माण कराया और उसका शुभ नाम 'कटकाभरण' रक्खा।" इस मंदिरका प्रबन्ध विशुद्ध और श्रेष्ठ यापनीय संघके नन्दिगच्छीय दिवाकर देवके शिष्य श्री मंदिरदेव करते थे। नृप अम्मने इस मंदिरके लिये दान दिया था और कटकराजकी प्रार्थना पर उसका जीर्णोद्धार कराया था। दुर्गराजके साथी राजमंत्री कुप्पनय्य थे, जिनके पिता तुरक्किय-यवन थे[१]।

विष्णुवर्द्धनका जैन धर्मसे सबंध।

अम्मराजके अतिरिक्त पूर्वीय चालुक्य नरेशोंमें विमलादित्य मुम्माडि-भीम विष्णुवर्द्धन (सन् १०११-१०१८ ई०) का प्रेम जैन धर्मसे था। उनके रामतीर्थम् वाले शिलालेखसे स्पष्ट है कि विष्णुवर्द्धन नरेशके धर्मगुरु देशीगणके जैनाचार्य मुनि त्रिकालयोगी सिद्धांतदेव थे। उन्होंने जैन तीर्थ 'रामतीर्थम्'की वन्दना की थी[२]।

तत्कालीन जैन धर्म और उसके उपासक।

इस प्रकार चालुक्य राज्यकालमें जैनधर्मका प्रभावशाली अस्तित्व रहा था। जैन धर्मके अनुयायी जहां एक ओर बड़े बड़े राजा और बहादुर सरदार थे, वहां दूसरी ओर सामान्य प्रजा भी उसकी उपासना करनेमें अपना गौरव समझती थी। जैनधर्मका

१ जैशाइं०, पृ० ६९। २ इंहिका०, भा० १२ पृ० ४६-४७।

खास प्रभाव उसके अनुयायी—एक सम्यक्तीके हृदयमें अनुकम्पा और अभयता (नि:शङ्कता) को सिरज देता है। जैनधर्मका भक्त प्राणी मात्रका भला चाहनेवाला उसकी जीवनयात्रामें सहायक होता है और उसका हृदय सप्त भयोंसे रहित निशङ्क होता है। चालुक्यवंशी जो भी राजा और सरदार जैनधर्मके द्वारा प्रभावित हुये, वह इस आदर्शके अनुरूप उतरे। चालुक्यनरेश अरिकेसरीका उदाहरण उल्लेखनीय है। उन जैनी वीरके रोम-रोमसे नि:शंकता और अभयताके पुण्यमई चिह्न टपकते थे। वह जानते थे कि राष्ट्रकूट राजाओंके वह सामन्त हैं—उन्हें राष्ट्रकूट साम्राज्यके शत्रुको शरण नहीं देना चाहिये; परन्तु एक सच्चे जैनीके समान उन्होंने निशङ्कवृत्तिका परिचय दिया और शरणागतकी रक्षा की। जैनधर्मकी अहिंसाने उन्हें दयालुताके साथ ही वीरताका पाठ पढ़ाया। यही आदर्श वीरवर दुर्गराजके व्यक्तित्वमें मिलता है। वह चालुक्य राजाओंके लिये कई युद्ध लड़ते हैं और अपने देशकी रक्षाके लिये सपरिवार कटिबद्ध रहते हैं; परन्तु यह सब कुछ करते हैं वह धर्म–पुरुषार्थको आगे रखकर ही। वह एक महान् योद्धा थे और चालुक्य-कटकके आभरण थे; परन्तु अपने हृदयगत धर्मभावको मुख्यता देनेके लिये वह अपने द्वारा बनवाये गये जिनमन्दिरका नाम रखते हैं 'कटकाभरण!' इसका अर्थ यही है कि जैनी वीर धर्मनीतिके अनुगामी होते हैं। उनकी छत्रछायामें प्राणी मात्रको अभय जीवन प्राप्त होता है!

किन्तु जैन धर्मका प्रभाव चालुक्यराज्यमें अभयताका प्रसार करने तक ही सीमित न रहा। अभयराज्यमें

धार्मिक उदारता और उसका प्रभाव। सुखसमृद्धि और सखाभाव भी स्वयं सिरज-जाते हैं। निस्सन्देह चालुक्य राजत्वकालमें अनेक जैनी जिनमंदिरों और दानशालाओंमें रुपया खर्च करते हुये मिलते हैं। यह घटना देशके सुखसमृद्धिशाली होनेके प्रमाण हैं। धार्मिक उदारता राजा और प्रजा दोनोंके हृदयोंमें घर किये हुये मिलते हैं। धर्म और सम्प्रदाय भेदकी ओर ध्यान न देकर उस समय हरकोई एक दूसरेका सहायक होता था। श्रावकी चामेकम्माने एक आहारदानशाला स्थापित की थी। उस दानशालामें मुनि–आर्यिका आदि सत्पात्रोंको दान देनेकी व्यवस्था होनेके साथ ही जैनेतर सब ही लोगोंको करुणादान दिया जाता था। जैनधर्मकी आराधना प्रत्येक मानव कर सकता था। जहां एक ब्राह्मण जैनधर्मकी दीक्षा ग्रहण करते हुये दिखाई पड़ता है, वहीं एक नृत्यकारिणी भी श्रावकके व्रत ग्रहण करती हुई मिलती है। जैनसंघमें इन नवदीक्षित जैनियोंको गौरवशाली पद प्राप्त होता था, यह बात कवि पम्पके उदाहरणसे स्पष्ट है। जैन धर्मकी इस उदार वृत्तिका प्रभाव संभवतः तत्कालीन वैदिक धर्मपर भी पड़ा था। यही कारण है कि एक तुरक-यवन जातिका राजमंत्री तब 'पुरोहित नारायण' के नामसे उल्लेखित हुआ मिलता हैं। जैनधर्मकी सार्वभौमिकता इन उल्लेखोंसे स्पष्ट है!

प्रारंभिक चालुक्योंका वंशवृक्ष।

जयसिंह
|
राजसिंह रणराग
|
१. पुलिकेशी प्रथम सत्याश्रय (५५० ई०)
|
- २. कीर्तिवर्मा प्रथम (५६६–५९७)
  - ४. पुलकेशी द्वि० सत्याश्रय (६०९–६४२)
    - आदित्यवर्मा
    - चन्द्रादित्य
    - ५. विक्रमादित्य प्रथम (६५५–६८०)
      |
      ६. विनयादित्य राजाश्रय (६८०–६९६)
      |
      ७. विजयादित्य (६९६–७३३)
      |
      ८. विक्रमादित्य द्वि० (७३३–७४६)
      |
      ९. कीर्तिवर्मा द्वि० (७४६–७५७)
  - कुब्ज–विष्णुवर्द्धन (पूर्वी शाखा स्थापी)
- ३. मंगलीश (५९७-६०८)

(पृष्ठ ३२)

(२)

राष्ट्रकूट-काल ।

(ई० ७ वीं से १३ वीं शताब्दि)

राष्ट्रकूट राजवंश ।

राष्ट्रकूट कुल।

दक्षिणापथ प्रदेशपर राज्य करनेवाले राजाओंमें राष्ट्रकूटवंशके राजा विशेष उल्लेखनीय हैं। उनका राज्य एक समय उत्तर भारतमें कन्नौज तक और दक्षिण भारतमें मैसूर तक फैला हुआ था। राष्ट्रकूट वंशके शिलालेखोंमें उसे एक उत्तम और संसारसे प्रसिद्ध राजकुल कहा है[1]। राष्ट्रकूट कुलका उल्लेख रट्ट, राष्ट्रवर्य और राष्ट्रोर (=राठोर) नामोंसे भी शिलालेखादिमें हुआ मिलता है[2]। मौर्य सम्राट् अशोकके कई लेखोंमें राष्ट्रिक अथवा रष्ट्रिक जातिके राजाओंका उल्लेख हुआ है। यह लोग मध्य भारतमें महाराष्ट्र और बह्राड प्रदेशपर राज्याधिकारी

---

१. दन्ति दुर्गके शक सं० ६७५ के सामनगढ़वाले शिलालेखमें लिखा है कि 'उत्तम राष्ट्रकूट वंशमें सुमेरुके समान इन्द्रराज नामका राजा हुआ।' (सद्राष्ट्रकूटकनकाद्रिरिवेन्द्रराज!) इसी राजाके इलोरावाले दशावतार गुफालेखमें राष्ट्रकूट कुलको पृथ्वीपर प्रसिद्ध लिखा है। (न वेत्ति खलु कः क्षितौ प्रकट राष्ट्रकूटा-न्वयं।)-भाप्रारा० ३।१।

२. अमोघवर्ष प्रथमके लेखमें, जो सिरूरसे मिला है, उसे 'रट्टवंशोद्भव' लिखा है। (IA., XII, २२०)· नवसारी व देवलीके ताम्रपत्रोंमें भी इस वंशका नाम 'रट्ट' लिखा है। J B B R A S XVIII, 219–266) मेवाडके घोसूंडी गांवके लेखमें इस वंशका नाम 'राष्ट्रवर्य' लिखा है· (भाप्रारा०, ३।३).

नाडोलके ताम्रपत्रमें इसको 'राष्ट्रोर' वंशके नामसे लिखा है। (Jbid)

राष्ट्रकूटोंका वंशवृक्ष।

दंतिवर्मा (६५०–६७० ई०)
|
इन्द्रराज प्रथम (६७०–६९०)
|
गोविंदराज प्रथम (६९०–७१०)
|
कर्कराज प्रथम (७१०–७३०)
|
इन्द्रराज द्वि० (७३०–७४५)
|
दन्तिदुर्ग द्वि० (७४५–७५६)
|
कृष्णराज प्रथम (७५६–७७५)
|
गोविंदराज द्वि० (७७०–७७२)
|
ध्रुवराज (७८० ई०)
|
गोविंदराज तृतीय
|
अमोघवर्ष प्रथम (८२१ ई०)
|
कृष्णराज द्वि० (९०० ई०)
|
इन्द्रराज तृ० (९१५ ई०)
|
├── अमोघवर्ष द्वि०
└── गोविंद चतुर्थ
    |
    अमोघवर्ष तृ०
    |
    कृष्णराज तृ० (९४०)
    |
    अमोघवर्ष चतुर्थ (९६८ ई०)
    |
    कर्क द्वि० (९७२ ई०)
    |
    इन्द्रराज चतुर्थ (९८२)

थे[1]। जब इन रष्ट्रिक (रट्ट) राजाओंने श्रेष्ठता प्राप्त करली तब ही यह राष्ट्रकूट नामसे प्रसिद्ध हो गये।

उत्पत्ति । कारणत: अनुमान किया जाता है कि अशोकके समयमें जो रठिक (रष्ट्रिक) क्षत्रिय सामन्तरूपमें मध्यभारतमें किन्हीं प्रदेशों पर शासनाधिकारी थे, उन्हींके उत्तराधिकारी उपरान्त मलखेड़के राष्ट्रकूट हैं। राष्ट्रकूटोंकी खानदानी उपाधि 'लट्टलूराधीश्वर' इसही बातकी द्योतक है। मूलमें यह रट्ट अथवा रटिक क्षत्रिय लट्टलूरमें ही राज्याधिकारी थे। वहांसे इनके पूर्वज एलिचपुरमें आकर शासनाधिकारी हुये प्रतीत होते हैं। इलिचपुरके राष्ट्रिक राजा नन्नसजसे मलखेड़के शाही राष्ट्रकूट राजा दन्तिदुर्गका सम्बन्ध होना संभव है[2]। उपरान्तके लेखोंमें राष्ट्रकूटोंको यद्यपि यदुवंशी लिखा है, परन्तु वह ठीक नहीं है[3]। उनका

---

1 The Rashtrakutas and Their Times, by A. S. Altekar – (=हीरा०) pp. 19–25.

2 " In my opinion the various Ratta or Rashtrakuta families of our period were the descendants of some of the Rathika families, that were ruling over small tracts in the feudatory capacity since the time of Asoka. "

—Altekar हीरा० पृ० १९.

लट्टलूर मध्यप्रदेशके बिलासपुर जिलेका रत्नपुर अनुमान किया गया था, परंतु मलखेडके राष्ट्रकूटोंकी मातृभाषा कनडी होनेके कारण उपरान्त वह हैदराबाद स्टेटमें बीडर जिलेका लाटूर ग्राम अनुमान किया गया है। नन्नराजकी राजधानी इलिचपुर उसके नजदीक बताई जाती है।

3 हीरा० पृ० १९ व भाप्रारा० ३।५।

मूल अर्थात् वंशका नाम 'रट्ट' ही था। 'राष्ट्रकूट' उनका प्रतिष्ठित और समलंकृत नाम है[1]।

अतः यह स्पष्ट है कि राष्ट्रकूटवंश एक अति प्राचीन और प्रतिष्ठित राजकुल है, जिसका उल्लेख अशोकके धर्मलेखोंमें भी मिलता है।

मुल्ताई और तिवरखेड़की प्रशस्तियोंसे प्रगट है कि इलिचपुरमें जिन राष्ट्रकूट राजाओंने शासन किया था, उनकी नामावली निम्नप्रकार है:—

प्रमुख पूर्वज।

(१) दुर्गराज, सन् ५७०—५९० ई०, (२) गोविंदराज, सन् ५९०—६१० ई०, (३) स्वामिकराज, सन् ६१०-६२० ई०, और (४) नन्नराज, सन् ६३१। मान्यखेटके राष्ट्रकूटवंशमें प्रमुख और प्रथम दंतिदुर्ग अथवा दंतिवर्मन् मिलते हैं। दंतिदुर्गका नन्नराजके साथ कैसा सम्बन्ध था, यह अज्ञात है। दंतिदुर्गके पिता इन्द्र थे, जिन्होंने एक चालुक्य राजकुमारीसे राक्षस विवाह किया था। वह एलिचपुर अथवा अचलपुरमें शासन करते थे[2]।

दंतिवर्मा।

मान्यखेट (मलखेड)के प्रसिद्ध राष्ट्रकूट राजाओंका प्रारम्भ दंतिवर्मासे होता है। उन्होंने सन् ६५० से ६७० ई० तक शासन किया था। दंतिवर्माने चालुक्यनरेश कीर्तिवर्मासे राष्ट्रकूटोंके उस दक्षिणी राज्यका बहुभाग वापिस छीन लिया था जिसे सोलंकी जय-

1—"....While Rashtrakuta was the formal appellation, which it was customary to apply to the Kings of Malkhed in ornate language, the real practical form of the family name was Ratta.'—Fleet. EI. VIII, pp. 220-88. २ बंरा० पृष्ठ ८-९

सिंहने जीत लिया था। इस विजयोपलक्षमें ही राष्ट्रकूटोंने 'वल्लभराज' उपाधि धारण की थी[1]। मुसलमान लेखकोंने इसी कारण राष्ट्रकूट राजाओंका उल्लेख 'बल्हरा' (वल्लभराय) नामसे किया है[2]।

इन्द्रराज प्रथम।

इन्द्रराज प्रथम दंतिवर्माका पुत्र और उत्तराधिकारी था। इसका अपरनाम पृच्छकराज था और इसने सन् ६७० से ६९० ई० तक शासन किया था। इन्द्रका पुत्र गोविंदराज (प्रथम) था। वही उसके बाद राज्यका स्वामी हुआ था।

गोविंदराज व कर्कराज।

इसका राज्यकाल सन् ६९० से ७१० ई० है[3]। चालुक्योंमें पुलकेशी (द्वितीय)के राज्यारोहणके समय गड़-बड़ देखकर अन्य राजाओंके साथ गोविंदराजने भी उन पर आक्रमण किया था, परन्तु उनकी आपसमें मित्रता होगई थी। गोविंदका उत्त-राधिकारी उसका पुत्र कर्क (प्रथम) वैदिक मतानुयायी था। इसके दो पुत्र इन्द्रराज और कृष्णराज थे[4]।

इन्द्रराज द्वि० व दंतिवर्मा द्वि०।

कर्कराजका बड़ा पुत्र इन्द्रराज उसके बाद राष्ट्रकूट राजसिंहासन पर बैठा था और उसने सन् ७३०—७४५ ई० तक राज्य किया था। इसकी रानी चालुक्यवंशकी राजकुमारी थी। दन्तिवर्मा (दन्तिदुर्ग-द्वितीय) इन्द्रराजका पुत्र था और

१-भाप्रारा० भा० २ पृ० ३९. २-सुलेमान, "सिलसिलातुत्तवारीख" व इब्न खुर्रदाद, "किताबुल मसालिक वउल ममालिक" देखो।-भाप्रारा० ३-१९, ३-इंo ऍंटी०, पृष्ठ १०, ४-भाप्रारा०, ३-९९।

वह उसके बाद गद्दीपर बैठा था। इसका राज्यकाल सन् ७४५–७५६ ई० है। दन्तिदुर्गने सन् ७४८ और ७५३ ई० के बीच चालुक्य कीर्तिवर्माके राज्यके उत्तरी भाग बातापीपर अधिकार करके उस प्रदेश पर राष्ट्रकूट राज्यकी स्थापना की थी। यह राज्य इस वंशमें करीब २२५ वर्षतक रहा था। दंतिदुर्ग बड़ा प्रतापी राजा था और इसका राज्य गुजरात और मालवेकी उत्तरी सीमासे लेकर दक्षिणमें रामेश्वर तक फैला हुआ था। इसने कांची, केरल, चोल और पाण्ड्य देशके राजाओं-को तथा कन्नौजके राजा हर्षको और बज्रटको जीतनेवाली कर्णाटककी बड़ी सेनाको हराया था। कलिङ्ग, कौशल, श्रीशैल, मालव, लाट, टंक, नागवंशी आदि राजाओंपर भी इसने विजय प्राप्त की थी [1]।

कृष्णराज प्रथम।

दंतिदुर्गके पश्चात् उसका चाचा कृष्णराज (प्रथम) राज्यका अधिकारी हुआ था। उसका राज्यकाल सन् ७५६ से ७७५ ई० तक अनुमान किया जाता है। चालुक्य राजा महावराह अर्थात् कीर्तिवर्मा द्वि०को इसने युद्धमें परास्त किया था। इलोरा (निजाम राज्य) की प्रसिद्ध गुफाओंका कैलाशभवन इसीने बनवाया था, जो अपनी कारीगरीके लिये प्रसिद्ध है। कृष्णराजके पुत्र (१) गोविंदराज और (२) ध्रुवराज थे [2]।

गोविन्दराज द्वितीय ही उपरान्त राष्ट्रकूट साम्राज्यका स्वामी हुआ। यद्यपि इसका शासनकाल केवल

१ भाप्रारा०, भा० ३ पृष्ठ २५–२८। २ Ibid. २९-३२।

गोविन्दराज द्वि०। ७७०–७७२ ई० अनुमान किया जाता है, परन्तु राष्ट्रकूट साम्राज्य इसी कालमें उन्नतिकी चरम सीमा पर पहुंचा माना जाता है[1]। वेङ्गि राज्यको इसने जीता था। यह भोगासक्त हो गया, जिसके कारण इसके छोटे भाई ध्रुवराजने इसके राज्यपर अधिकार जमा लिया था। गोविन्दके कांची; गंगवाड़ी और वेङ्गिके नृपोंको साथ लेकर ध्रुवपर अपना राज्य वापिस लेनेके लिए आक्रमण किया था; परन्तु ध्रुवने सबको हरा दिया था।

ध्रुवराज। ध्रुवराज अथवा ध्रुव धारावर्ष जब सन् ७८० ई० में अपने भाईको हराकर गद्दीपर बैठा, तब उसकी उम्र करीब पचास वर्षकी थी[2]। वह महान् वीर और योग्य शासक था, इसीलिए उसको 'निरुपम' भी कहते थे। सम्भवत: उसका अधिकार उत्तरमें अयोध्यासे लगाकर दक्षिणमें रामेश्वर तक था। इसके कई पुत्र थे, जिनमेंसे (१) स्तम्भ, गंगवाड़ीका शासक था, (२) कर्क स्वर्णवर्ष खानदेशपर शासन करता था, (३) गोविन्द पिता द्वारा उत्तराधिकारी नियुक्त किया गया था। ध्रुवराजने उसको योग्य देखकर उसके गलेमें ही राज्य-कण्ठी (कण्ठिका) बांधी थी और (४) इन्द्र गुजरातपर राज्य करता था।

गोविन्दराज तृ०। गोविन्दराज (तृतीय) ही ध्रुवका उत्तराधिकारी हुआ। इसके बड़े भाई स्तम्भने दक्षिणके बारह राजाओंको साथ लेकर राज्यपर अधिकार पानेकी चेष्टा की थी, परन्तु गोविन्दने उनको हरा दिया

१ दीरा० पृ० ४८। २ दीरा०, पृ० ४८। ३ दीरा० पृ० ५२ व भाप्राए० ३।३४–३५।

था। गंगराजाको भी इसने कैदी बनाया था। पल्लवादि राजाओंपर विजय प्राप्त की थी। अपने छोटे भाई इन्द्रराजको इसने गुजरातका राजा बनाया था, जिससे राष्ट्रकूटोंकी दूसरी शाखा गुजरातमें स्थापित हुई थी। यह बड़ा प्रतापी राजा था। मान्यखेटकी रक्षाके लिये इसने उसके चारों तरफ शहरपनाह बनाई थी[1]।

अमोघवर्ष प्रथम। गोविन्द तृतीयका पुत्र अमोघवर्ष (प्रथम) उसके पीछे गद्दीपर बैठा था। इसका असली नाम शायद 'शर्व' था। सन् ८१४ ई० जब वह राजगद्दीपर बैठा तब वह छै वर्षका निरा बालक ही था। राज्यसंचालनका भार गुजरात शाखाके राजा उसके चचेरे भाई कर्ण सुवर्णवर्षने संभाला था। अमोघवर्षका शासन शांतिपूर्वक प्रारम्भ हुआ; परन्तु सामन्तगण शीघ्र ही उसके विरुद्ध हो चले। हठात् अमोघवर्षके राज्यसे कुछ दिनोंके लिए हाथ धोने पड़े। सन् ८१६ से ८२१ ई० तक अराजकताका दौरदौरा राष्ट्रकूट साम्राज्यमें रहा। किन्तु कर्कसुवर्णवर्ष बराबर अमोघवर्षके साथ रहा और अपने बाहुबलसे उसने सन् ८२१ ई०में उसे राज्यसिंहासन पर पुनः बैठाया[2]। इस समय अमोघवर्षकी आयु बारह वर्षकी थी; परन्तु उसने दृढ़तापूर्वक अपने हाथोंमें शासनसूत्र संभाला और उसमें वह सफल हुआ। अमोघवर्षने चालुक्य नरेश विजयादित्यको पुनः हराया। सांगलीके दानपत्रमें (८३३ ई०) लिखा है कि विंगवल्लिके मैदानमें अमोघवर्षका युद्ध चालुक्य और अम्यूक्क नरेशोंसे हुआ था। उस युद्धमें अमोघवर्ष इस वीरता और

१ दीरा० पृ० ६२ व भाप्राए० ३।३७ ३८। २-दीस० पृष्ठ ७१-७५।

दृढ़तासे लड़ा था कि मानो उसने यमदेवकी ही दावत की थी ।[1] अङ्ग, वङ्ग, मगध, मालव, चित्रकूट और वेङ्गिके राजा अमोघवर्षकी सेवामें रहते थे। निस्सन्देह राज्यप्राप्तिके बाद उसने अपना प्रभाव अच्छी तरहसे जमा लिया था। मान्यखेटको इसने अपनी राजधानी बनाया था। इसके पास ये वस्तुयें राज्य-चिह्नस्वरूप थीं। (१-३) तीन श्वेतछत्र, (४) एक शंख, (५) एक पालिध्वज और (६) एक ओकेतु। उसकी उपाधियां इस प्रकार मिलती हैं: (१) नृपतुङ्ग, महाराज शण्ड, अतिशयधवल, वीरनारायण, पृथिवीवल्लभ, श्रीपृथिवीवल्लभ, लक्ष्मीवल्लभ महाराजधिराज, भटार और परमभट्टारक। उसके समयमें वेङ्गिके पूर्वी चालुक्योंसे बराबर युद्ध जारी रहा था और उसमें वह विजयी भी हुआ था।[2]

अमोघवर्षकी शासन-व्यवस्था।

अमोघवर्षने दीर्घकाल तक राज्य किया था। अपने शासनके आरंभमें उसे साम्राज्य-विरोधी शत्रुओंसे मोरचा लेना पड़ा था और उसमें वह सफल हुआ था। हां, यह जरूर है कि अमोघवर्षने राज्याकांक्षासे प्रेरित होकर कोई आक्रमण नहीं

१-" स्वेच्छागृहीतविषयान् दृढसंगभाजः।
प्रोवृत्तदृप्तरशान्किकराष्ट्रकूटान् ॥
उत्खातखड्गनिजबाहुबलेन जित्वा
योऽमोघवर्षमचिरात्स्वपदे व्यधत्त ॥"

२-भाप्रारा०, भा० ३ पृष्ठ ३९-४४.
" निमग्नां यश्चुलुक्याब्धौ रट्टराज्यश्रियं पुनः।
पृथ्वीमिवोद्धरन् धीरो वीरनारायणो भवत् ॥"

किया था और न कोई नया प्रदेश राष्ट्रकूट साम्राज्यमें बढ़ाया था। वस्तुतः सम्राट् अमोघवर्षको शान्ति प्रिय थी और साहित्य एवं धर्म ही ऐसे विषय थे, जो उन्हें अपनी ओर आकृष्ट करते थे। शायद यही कारण है कि उन्होंने युद्धमें निरर्थक हिंसा करनेसे अपनेको यथासंभव बचाया ही था। गंगवाड़ीके गंगराजाओंपर उन्होंने आक्रमण किया अवश्य, परन्तु उसका अन्त एक सन्धि द्वारा हुआ। अमोघवर्षने गंग-राजवंशके युवराज वुट्टुगके साथ अपनी पुत्री राजकुमारी चन्द्रोबेलब्बाका विवाह करके इस संधिको और भी दृढ़ कर दिया था। परिणाम यह हुआ कि गंग राजाओंका सम्बन्ध राष्ट्रकूटोंके साथ घनिष्ट और अन्त तक बना रहा। अमोघवर्ष स्वयं विचारसिक थे और विद्वानोंका आदर करनेमें उन्हें मजा आता था। नागवर्म्म द्वितीय, केशिराज और भट्टा-कलंक (सं० १६००) सब ही एक स्वरसे कहते हैं कि अमोघवर्ष कवियों और विद्वानोंके प्रति अत्यन्त समुदार थे। उनके राजदरबारमें अनेक जैन कवियोंको आदर प्राप्त हुआ था। स्वयं जिनसेनाचार्य उनके गुरु थे। उन्हींके राज्यकालमें श्री वीरसेनाचार्यने अपनी 'धवला' टीका फाल्गुण शुक्ला १० शक सं० ७९९ (मार्च ९०० ई०)को समाप्त की थी। अमोघवर्षके शासनकालकी यही अंतिम तिथि है। इस समय तक वह लगभग चौसठ वर्ष शासन कर चुके थे।

अंतिम जीवन। इस तिथिके उपरांत उन्होंने संभवतः शासनसूत्र अपने पुत्र कृष्ण-राज द्वितीयके सुपुर्द कर दिया था और वह स्वयं अपनी आत्माका हित साधनेके लिये जैन गुरुओंकी सत्संगतिमें आ रमे थे। सज्जन

दानपत्र (श्लो० ४७)से यह स्पष्ट है कि अमोघवर्षने अपने अंतिम जीवनमें राजगद्दी छोड़ कर वैराग्य धारण किया था। उसके वर्णनसे यह भी प्रकट होता है कि उन्होंने एकसे अधिक दफा राज्यत्याग किया था। इसका भाव यही होसकता है कि अमोघवर्षने क्रमशः जैनाचार्की परमोच्च दीक्षा ली थी। जैन गुरुओंकी सत्संगतिसे लाभ उठानेके लिये वह अपने पुत्रको राज्यभार सौंप कर प्रारम्भमें एकांतवासी हुये होंगे और व्रती श्रावक बने होंगे। इस अवांतरकालमें वह राज्यकी कुशलक्षेमका ध्यान रखते प्रतीत होते हैं—उससे वह सर्वथा विमुख नहीं हुये थे। यही कारण है कि आवश्यक्ता पड़नेपर उन्होंने शासन-सूत्रको पुनः अपने कुशल हाथोंमें लिया था। अन्ततः वह संसारसे पूर्ण विरक्त होकर मुनि होगये थे। उनका स्वर्गवास संभवतः सन् ९०० ई०में हुआ था[1]।

कृष्णराज द्वितीय। कृष्णराज द्वितीय अमोघवर्षके उत्तराधिकारी थे। यद्यपि वह अपने पिताके जीवनकालमें ही शासन करने लगे थे, परन्तु उनका राज्याभिषेक सन् ९०० ई० के बाद हुआ था।[2] उन्होंने चेदिके हैहयवंशी राजा कोक्कलकी कन्या महादेवीसे विवाह किया था। यह विवाह कोक्कलकी राजधानी त्रिपुरी (तेवर) में हुआ था। उनकी

१ दीरा० पृष्ठ ७१-८१. सौन्दत्तिके लेखसे प्रगट हैं कि सन् ८७५ ई०में कृष्ण द्वि० राजा थे, परन्तु कन्हेरी लेखसे सन् ८७७ ई०में अमोघवर्षका पुनः राज्यासीन होना स्पष्ट है। अतः अमोघ०ने एक वार किंचित् कालके लिये राज्यसे उदासीन होकर पुनः शासनसूत्र संभाला प्रगट है।

२—दीरा० पृ० ९०.

उपाधियां अकालवर्ष, शुभतुङ्ग, महाराजाधिराज, परमेश्वर, परम भट्टारक, श्री पृथ्वीवल्लभ और वल्लभराज मिलती हैं। कृष्णके राज्यकालमें भी पूर्वी चालुक्य राजाओंसे राष्ट्रकूटोंका युद्ध होता रहा था। इसके अतिरिक्त यह भी प्रगट है कि कृष्णराजने आंध्र, गङ्ग, कलिङ्ग और मगधके राज्योंपर अपनी प्रभुता जमाई थी, गुर्जर और गौड़ देशके राजाओंसे युद्ध किया था और लाट देशके राष्ट्रकूट राज्यको छीनकर अपने राज्यमें मिला लिया था। इनका राज्य कन्याकुमारीसे गंगाके किनारे तक पहुंच गया था। जगतुङ्ग इनका पुत्र था। उसने इनके लिये कई लड़ाइयां लड़ी थीं। उसका विवाह चेदिके कलचूरी (हैहयवंशी) राजा कोक्कलके पुत्र रणविग्रह (शङ्करगण) की कन्या लक्ष्मीसे हुआ था। जगतुङ्गका रणविग्रह सगा मामा था; उस समय मामाकी लड़कियोंके साथ विवाह करना प्रचलित था। किन्तु जगतुङ्गका स्वर्गवास कृष्णराजके जीवनकालमें हो गया था। यही कारण है कि उसके पश्चात् उसका पोता इन्द्रराज (तृतीय) राज्याधिकारी हुआ था।

इन्द्रराज तृतीय। इन्द्रराजका विवाह भी हैहयवंशी कोक्कलके पौत्र अर्जुनके पुत्र अम्मणदेव (अनङ्गदेव] की कन्या वीजाम्बासे हुआ था। इसकी उपाधियां नित्यवर्ष, महाराजाधिराज, परमेश्वर, परमभट्टारक और श्री पृथिवीवल्लभ थीं। कुरुन्धक नामक स्थान पर इसका पट्टबंधोत्सव ता० २४ फरवरी सन् ९१५ ई० को हुआ था। उस समय इसने

१–भाप्रारा०, भा ३ पृ० ४८–५२.

४०० ग्रामोंका दान दिया था। इसने अपनी राजधानी अश्मकोंके पुरातन नगर पोदनमें रक्खी थी।[1] कन्नौजके प्रड़िहार राजा महीपालको इसने हराया था। यह राजा बड़ा दानी था। इसके दो पुत्र (१) अमोघवर्ष (२) और गोविन्द थे।

अमोघवर्ष द्वि० व गोविंद चतुर्थ।

अमोघवर्ष द्वितीयने केवल एक वर्ष राज्य किया था। उसके पश्चात् इसका छोटा भाई गोविन्दराज (चतुर्थ) गद्दीपर बैठा था। इसके नामका प्राकृतरूप गोज्जिग मिलता है। इसकी उपाधियां प्रभूतवर्ष, सुवर्णवर्ष, नृपतुङ्ग, वीरनारायण, रट्टकंदर्प, शशाङ्क, नृपतित्रिनेत्र, महाराजाधिराज, परमेश्वर, परमभट्टारक, पृथिवीवल्लभ, वल्लभनरेन्द्रदेव गोज्जिग वल्लभादि मिलती हैं। पूर्वी चालुक्य राजा भीम द्वितीयसे इसका युद्ध हुआ था। उस युद्धमें विजयलक्ष्मी इससे रुष्ट होगई थी। यह राजा अत्यन्त विषयासक्त होनेके कारण सामन्तोंको अप्रिय हो गया था और शीघ्र ही मृत्युको प्राप्त हुआ था।

अमोघवर्ष तृतीय।

जगत्तुङ्ग द्वितीयकी गोविंदाम्बा नामक रानीका पुत्र बद्दिग (अमोघवर्ष तृतीय) गोविन्दके बाद मान्यखेटका राजा हुआ। उसको राज्यारूढ़ करानेमें सामन्त अरिकेसरीने विशेष उद्यम किया था। वह स्वयं राज्याकांक्षा नहीं रखते थे, बल्कि एकांतवासमें धर्माराधना करनेमें लीन रहते थे। परन्तु सामन्तोंके आग्रह करनेपर उन्होंने राष्ट्रकूट साम्राज्यका शासनभार अपने कन्धोंपर लिया था। सन् [illegible]से

१–जैएं० भा० ६ पृ० ६१. २–भाप्रारा० भा० ३ पृ० ५३–५४ व दीरा०, पृ० १०६–१०७.

उनका राज्यारम्भ हुआ और चार वर्षतक रहा था। यह राजा बड़ा समझदार और वीर था। इसका विवाह हैहयवंशी राजकुमारी कुन्दकदेवीसे हुआ था। इसकी कन्या रेवकनिम्मडि गंग वंशके राजा सत्यवाक्य कोंगुणिवर्म–पेरमनडि–भूतुगको व्याही गई थी। इसके चार पुत्र कृष्णराज, जगतुङ्ग, खोट्टिग और निरुपम थे[1]।

कृष्णराज (तृतीय) बद्दिगका बड़ा पुत्र था और उसके बाद सन् ९४० ई०में राज्याधिकारी हुआ था।

कृष्णराज तृ०। कृष्णने गंगवाड़ी और चेदिके राजाओंको हराया था[2]। चेदिराज्यके कालंजर और चित्रकूट नामक किलोंको छीन कर अपने अधिकारमें किया था। गङ्गवंशी राजा सत्यवाक्य-कोंगुणिवर्मा-पेरमनडि-भूतुगके सहयोगसे चोलवंशी राजा राजादित्यको युद्धमें तलवारके घाट उतारा था। हिमालयसे लङ्का तकके और पूर्वी समुद्रसे पश्चिमी समुद्र तकके सामन्त राजा इसकी आज्ञा मानते थे। एक लेखमें इसकी उपाधि 'चक्रवर्ती' भी लिखी है। यह राजा बड़ा प्रतापी था और इसका राज्य सिंहलसे गंगाकी सीमाको भी पार कर गया था।

कृष्णराजके पश्चात् उसका छोटा भाई खोट्टिग नित्यवर्ष अमोघवर्ष चतुर्थ सन् ९६८ ई०में गद्दीपर बैठा था।

अमोघवर्ष चतुर्थ। यह 'रट्ट-कंदर्प' भी कहलाता था। इसके समयसे ही राष्ट्रकूट साम्राज्यका पतन होना

१-भाप्रारा०, ३।५५-५६ व दीगा०, पृ० १०८–१११.

२ गंगराजा राचमल्ल (प्रथम) को गद्दीसे हटाकर कृष्णने अपने बहनोई भूतुगको राजा बनाया था। भूतुग भी गंगवंशी था।

आरम्भ होगया था। सीयक परमारने इसे हरा कर मान्यखेटको लूटा था। इस युद्धमें वह काम आया[1]।

कर्क द्वितीय। उपरान्त निरुपमका लड़का और खोट्टिगका भतीजा कर्क द्वितीय राज्याधिकारी हुआ था। सन् ९७२ ई० से कुल १८ महीने ही वह राज्य कर पाया था कि तैल द्वितीयने इसे हराया और राज्यभ्रष्ट कर दिया। सीयक परमारके युद्धसे राष्ट्रकूट राज्य पहले ही शिथिल पड़ गया था। अतः वह चालुक्य राज तैलके समक्ष टिक न सका।[2]

इन्द्रराज चतुर्थ। श्रवणबेलगोलसे शक सं० ९०४ (सन् ९८२) का एक लेख मिला है, जिसमें राष्ट्रकूटवंशके इन्द्रराज चतुर्थका उल्लेख है। वह कृष्णराज (तृतीय) का पौत्र था। कर्कराज द्वितीयके बाद राष्ट्रकूट राज्यको कायम रखनेके लिये पश्चिमी गंगवंशी राजा पेरमनडी मारसिंहने इन्द्रराज चतुर्थको राज्य दिलानेकी कोशिस की थी; परन्तु उसका परिणाम क्या हुआ, यह अभीतक अज्ञात है[3]।

गुजरातके राष्ट्रकूट राजा। राष्ट्रकूट राजा गोविन्द तृतीयके समयमें उसके भाई इन्द्रने गुजरातमें राष्ट्रकूटवंशकी शाखा स्थापित की थी। इन्द्रके पश्चात् उसका पुत्र कर्क सुवर्णवर्ष (पातालमल्ल) सन् ८१२ ई० में गुजरातका राजा हुआ था। इसी राजाने अमोघवर्ष प्रथमको

१-दीरा० पृ० ११३-११४ व भाप्रारा० भा० ३ पृ० ५६-६०.
२-भाप्रारा०, भा० ३ पृ० ६१-६४. ३-भाप्रारा०, भा० ३ पृ० ६४

राजगद्दी दिलाई थी, यह पहले लिख चुके हैं। यह राजा अमोघवर्षका राज्य संभाले हुये था और गुजरातमें उसका भाई गोविंद उसके नामपर शासन करता था। उपरान्त इस शाखामें ध्रुव प्रथम, अकालवर्ष शुभतुंग, ध्रुव द्वितीय, दंतिवर्मा और कृष्णराज अकालवर्ष क्रमशः राजा हुये थे। सन् ८८८ ई० के बाद गुजरात शाखाका अन्त हो गया था[1]।

राष्ट्रकूटोंका प्रताप। राष्ट्रकूट वंशके राजा उस समय भारतवर्षके राजाओंमें सर्वप्रधान समझे जाते थे। वह थे भी बड़े प्रतापी, साहसी और नीतिवान् शासक। उनकी कीर्ति भुवनविख्यात् थी। अरबके मुसलमान व्यापारी सुलेमान (सन् ८५२ ई०) ने अपनी किताब 'सिल्सिलातु त्तवारीख' में लिखा है कि "हिन्दुस्तान और चीनके लोगोंका अनुमान है कि संसारमें चार बड़े बड़े बादशाह हैं-पहला अरबदेश (बगदाद) का खलीफा, दूसरा चीनका, तीसरा यूनानका और चौथा बल्हरा (वल्लभराज=राष्ट्रकूट)। यह बल्हरा भारतके दूसरे तमाम राजाओंसे अधिक प्रसिद्ध है। अन्य राजा लोग इसके राजदूतोंका बड़ा आदर करते हैं। अरबोंकी तरह यह भी अपनी सेनाका वेतन समयपर दे देता है। इसके पास बहुतसे हाथी, घोड़े हैं और धनकी भी इसे कुछ कमी नहीं है। इसका राज्य कोङ्कणसे चीनकी सीमा तक (!) फैला हुआ है। इसके सिक्के द्रम्म हैं। उनका वजन अरबी द्रम्मोंसे डेवढ़ा है। इनपर इनका राज्याभिषेक संवत् लिखा रहता है। बल्हरा इनका वैसा ही खानदानी खिताब है जैसा कि ईरानके बादशाहोंका खुसरो।

1. दीरा० पृ० ७९-८४।

यह अक्सर अपने पड़ोसी राजाओंसे लड़ता रहता है। इनमें विशेष उल्लेख योग्य गुजरातका राजा है[१]।" सुलेमानके समयमें अमोघवर्ष प्रथम शासन कर रहे थे। अतः यह वृत्तांत भी उन्हींके समयका होना संभव है[१]। सुलेमानने यह भी लिखा है कि राष्ट्रकूट राजा शराब नहीं पीते हैं। उनके राज्यमें धन-सम्पत्ति सुरक्षित है। चोरी डकैतीका नाम नहीं है और व्यापारवाणिज्यकी समृद्धि है। विदेशियोंका सम्मान किया जाता है।

इब्न खुर्दादबे हिजरी सन् ३०० (ई० सन् ९१२) के करीब 'किताबुल-मसालिक-बउल-ममासिक' नामकी पुस्तक लिखी थी। इस समय कृष्णराज द्वितीयका राज्य था। उस पुस्तकमें भी लिखा है कि "हिन्दुस्तानमें सबसे बड़ा राजा बल्हरा है। इसकी अँगूठीमें यह वाक्य खुदा है कि दृढ़तासे किया हुआ प्रत्येक कार्य अवश्य सिद्ध होता है।"

अलमसऊदीने 'मुरूजुल-जहब' नामक पुस्तक हिजरी सन् ३३२

१–भाप्राrा०, भा० ३ पृ० १५. अमोघवर्षने गुजरातके राजा ध्रुव पर चढ़ाई की थी। इसका राज्य दक्षिणमें रामेश्वरसे उत्तरमें अयोध्यातक फैला हुआ था। नेपालकी वंशावलीमें लिखा है कि शक सं० ८११ में कर्णाटक वंशके संस्थापक क्यानदेव (=कृष्णदेव) ने दक्षिणसे आकर सारे नेपाल देशपर अधिकार कर लिया था। शक सं० ८११ में कर्णाटकका राजा कृष्णराज द्वितीय था। अतः सम्भव है कि ध्रुवराजके बाद उसके वंशजोंने अयोध्यासे आगे नेपालके कुछ भाग पर अधिकार कर लिया हो और बादमें कृष्णराज द्वि०ने आक्रमण कर सारा देश ही ले लिया हो। नेपाल व चीनकी सीमा मिली हुई होनेके कारण ही सुलेमानने इनका राज्य चीनकी सीमा तक फैला हुआ लिखा है।

(सन् ९४४ ई०) में रची थी, जब कि राष्ट्रकूट राजा कृष्ण तृतीय राज्य कर रहे थे। उसमें राष्ट्रकूटोंके विषयमें लिखा है कि “वर्तमान कालके हिन्दुस्तानके राजाओंमें सबसे बड़ा और प्रतापी मानकीर (मान्यखेट)का राजा बल्हरा है। अन्य बहुतसे राजा लोग इसे अपना सरदार समझते हैं। इसके पास बड़ी भारी फौज है। यद्यपि इसमें बहुतसे हाथी भी हैं, तथापि इसकी राजधानी पहाड़ी प्रदेशमें होनेके कारण अधिक संख्या पैदल सिपाहियों ही की है। इनके यहांकी भाषाका नाम ‘कीरीया’ (कनाड़ी) है। मानकीर बड़ा नगर है और यह समुद्रसे ८० फर्लांगके फासले पर है।”

राष्ट्रकूट साम्राज्यका विस्तार।

अरब यात्रियोंके उपर्युक्त वर्णनोंसे राष्ट्रकूट राजाओंका प्रतापशाली होना स्पष्ट है। उनका राज्य ‘रट्ट-पाटी’ या ‘रट्टराज्य’के नामसे प्रसिद्ध था[1] और वह वर्तमानके समूचे दक्षिणी गुजरात, मध्यप्रांतके मराठी जिलों, कोङ्कन, सारे महाराष्ट्र, सारी रियासत हैदराबाद, कर्णाटक और मैसूर राज्य इतना था। उसकी उत्तरीय सीमा केम्बेसे होशंगाबाद तक, पूर्वी सीमा होशंगाबाद, नागपुरसे वेंगल और कड़पा (Cuddapah) तक, दक्षिणी सीमा उत्तरीय पेन्नरसे अरब समुद्र तक और पश्चिमी अरब समुद्र तक विस्तृत मानी जा सकती है[2]।

इतने विस्तृत साम्राज्यका प्रबन्ध भी राष्ट्रकूट राजा लोग अतीव चातुर्य और सुव्यवस्थासे करते थे। उनका समूचा

१-भाप्रारा०, भा० ३ पृष्ठ [illegible] २-[illegible]दीरा०, पृष्ठ [illegible]

शासन प्रबन्ध। (राष्ट्रपति) साम्राज्य २० या २५ राष्ट्रों (मंडलों= Modern division i/c. of a Commissioner) में विभक्त था। प्रान्तीय शासक 'राष्ट्रपति' कहलाता था और महासामंत पदका धारी होता था। उनके नामके साथ कनड़ी भाषाका 'रस' (=राजा) शब्द प्रयुक्त होता था। बहुधा प्रान्तीय शासकगण राजपुत्र और बीर सेनानी होते थे। किन्हीं बीर सेनानियोंको यह पद सन्तान परम्परासे प्राप्त होता था। जैसे वीरवर बङ्केयको प्राप्त था। इन शासकोंके पास अपनी सेना होती थी जिससे यह शान्ति स्थापना और युद्धका काम लेते थे। साम्राट्को सेनाके साथ इन्हें भी ससैन्य युद्धके लिये जाना पड़ता था। महकमामालका प्रबंध भी इनके आधीन होता था। इनका सीधा सम्बन्ध सम्राट्की मलखेड सरकारसे होता था। इनको ग्राम दान देनेका अधिकार नहीं था। सम्राट्की आज्ञा लेकर भूमिदान करते थे[1]।

विषयपति। राष्ट्रपतियोंके आधीन 'विषयपति' होते थे[2]। राष्ट्रकूट साम्राज्यमें 'विषय' राष्ट्रका अन्तर्प्रान्त (Sub-division) होता था, जो आजकलका एक जिला कहा जासकता है। एक विषयमें लगभग दोहजार ग्राम होते थे। विषयपति जिलाधीश होता था और वह छोटे रूपमें राष्ट्रपतिके तुल्य समझा जाता था। सुप्रबन्धके हेतु परामर्श देनेके

१-दीरा०, पृष्ठ १७३-१७५। २-चालुक्य और कल्चूरी आदि राज्योंका भी प्रबन्ध प्रायः इसी ढंगका था। हां चालुक्योंमें 'विषय' प्रान्तके लिये प्रयुक्त होता था और राष्ट्र उसका अन्तर्भाग समझा जाता था। (EI. XII, 130) कहीं२ मंडल शब्द भी प्रयुक्त होता था।

लिये 'विषयमहत्तरों' की एक कौंसिल हुआ करती थी जो विषयपतिको राज्यप्रबन्धमें सहायता देती थी[1]।

भोगपति। विषयपतियोंके आधीन तालुका–अफसर (=तहसीलदार) होते थे जो 'भोगिक' अथवा 'भोगपति' कहलाते थे। तहसील 'भुक्ति' कही जाती थी। प्रत्येक भुक्तिमें एकसौसे पांचसौ तक ग्राम होते थे[2]। यह मालका भी काम करते थे। इनकी सहायताके लिये प्रत्येक ग्राममें पुश्तैनी अफसर माल हुआ करते थे, जो 'नाडगावुंड' (Headman) कनड़ी भाषामें और 'देशग्रामकूट' महाराष्ट्रमें कहलाते थे।

ग्राम। प्रत्येक 'भुक्ति' के ग्राम छोटे-छोटे समूहोंमें बंटे हुए थे। प्रत्येक समूह अपने प्रमुख ग्रामके नामसे प्रसिद्ध होता था। उस नामके साथ उसके अन्तर्गत ग्रामोंकी संख्या भी निर्देशित की जाती थी; जैसे "सारा-कच्छ-द्वादश-ग्राम"–"वयुवल-द्वादश-ग्राम"–'रुरिध-दशक' आदि। इसी तरह प्रान्तादिके नामोंके साथ जो संख्या प्रयुक्त होती थी, वह भी ग्रामोंकी द्योतक समझना चाहिये। ग्रामोंकी रक्षाका भार गावुंड अथवा ग्रामकूट (Headman) पर होता था[3]।

पुरों और नगरोंके प्रबंधके लिये 'पुरपति' और 'नगरपति' नामके अफसर नियुक्त किये जाते थे। बहुधा

१–दीरा० पृ० १७६। २–दीरा० पृ० १३७। ३–Ibid, पृ० १७६–१७७।

पुरपति व नगर प्रबंध। इन पदोंपर सेनापति नियत किये जाते थे; जो कभी-कभी 'महासामन्त' भी होते थे। यह अफसर लोग नगरादिका प्रबंध एक सार्वजनिक कमेटीके सहयोगसे किया करते थे। इस कमेटीमें नगरके महल्लेवार प्रतिनिधि होते थे; परन्तु वे श्रेष्ठी-वणिक-ब्राह्मणादि हुआ करते थे (पौरत्रिवर्गप्रभृतीन् समाज्ञापयति)[१]।

इस समय गांवोंमें बहुधा पशुधन पर लड़ाइयां होती थीं। जनता अस्त्र-शस्त्रोंका प्रयोग करना जानती थी। **वीर ग्रामीण।** मणिहार (Bangle-Sellers) तक शसस्त्र सैनिकोंका मुंह फेरनेकी शक्ति रखते थे[२]। प्रत्येक गांवमें प्रायः गांववालोंकी एक सेना-सी होती थी, जिसका नायक गावुंड (headman) होता था। ग्रामरक्षामें अपने प्राणोंकी आहुति देनेमें लोग गौरव समझते थे। ऐसे वीर पुरुषोंके स्मारक बनाये जाते थे, जो 'वीरगल्' कहलाते थे। प्रत्येक ग्राममें एक 'ग्राम-पंचायत' होती थी, जिसके सदस्योंका चुनाव प्रतिवर्ष हुआ करता था। पंचायतके सदस्य 'महाजन' कहलाते थे और उनका यह कर्तव्य था कि वे गांवकी फसलोंका नियंत्रण करें, मालगुजारीकी देखरेख रक्खें और सार्वजनिक कार्योंकी सुव्यवस्था करें। यह महाजन गांवके प्रत्येक कुटुम्बका मुखिया होता था। महाराष्ट्र व गुजरातमें इनको 'महत्तर' कहते थे[3]।

१-Ibid, 181-184. २-इका० (Ec. VIII, Sorab No. 530). ३-दीरा० पृ० १८९-१९७।

सम्राट्।

इसप्रकार यह स्पष्ट है कि राष्ट्रकूट राजाओंका शासन प्रबंध सुव्यवस्थित और समुदार था। उसमें एक ग्रामीण तककी आवाजको स्थान मिला हुआ था और उसके अन्तर्गत प्रत्येक मनुष्य स्वाधीन और स्वावलम्बी था। यह व्यवस्थित शासनसूत्र सम्राट्के हाथोंमें रहता था। सम्राट् यद्यपि स्वाधीन थे, परन्तु वह शासनप्रबंध मंत्रि-मंडलके सहयोगसे किया करते थे। वे अपने अधिकारोंको काममें लानेके लिये स्वाधीन थे। वह मनमाना दान पुण्य करते थे। वीर सेनानियोंको पुरस्करित और सम्मानित करते थे। उन्हें सामन्तपद पर नियुक्त करते थे। राजकर्मचारियोंको भी वह नियुक्त करते थे और न्यायाधीशका सर्वोच्च आसन उन्हें ही प्राप्त था। अपना उत्तराधिकारी भी वह स्वयं घोषित करते थे।[1]

युवराज।

सम्राट्का ज्येष्ठ पुत्र ही प्रायः उनका उत्तराधिकारी होता था। कदाचित् वह अयोग्य हुआ तो उसके छोटे भाई भी राजा द्वारा उत्तराधिकारी घोषित किये जाते थे। उत्तराधिकारी ही युवराज होता था। यदि ज्येष्ठ पुत्र अल्पायु हुआ तो राजाका छोटा भाई युवराज घोषित किया जाता था। युवराज 'पंचमहाशब्द सामन्त' पद-धारी होता था और गलेमें एक हार (कंठिका) पहनता था। वह राजाके साथ शासन करता था और राजधानीमें रहता था। उसके छोटे भाई प्रांतीय शासक नियुक्त किये जाते थे। चालुक्य साम्राज्यमें राजरानियां भी प्रान्तीय शासक नियत की जाती थीं[2]।

१-Ibid 150 ff. २-Ibid.

राजदरबार । राजदरबारका प्रबंध राजपुरोहित और उसके सहकारियोंके आधीन रहता था। अमोघवर्ष प्रथमके संजन दानपत्रके एक श्लोकसे प्रगट है कि राजदरबारमें हरकोई विना आज्ञा प्राप्त किये प्रवेश नहीं कर सकता था, बल्कि सामन्तों और विदेशी राजदूतोंको भी प्रतीक्षा करनी पड़ती थी। राजदरबारके बाहर पैदल सेना, घुड़सेना तैनात रहती थी। अबूजैद कहता है कि दरबारमें भारतीय राजा रत्नजड़ित कुण्डल और रत्नमालायें पहनते थे। जैनाचार्य श्री सोमदेवने भी अपने 'नीतिवाक्यामृत' नामक ग्रंथमें ऐसा ही विधान किया है। उसमें यह भी लिखा है कि राजाके साथ नर्तकियां और वारवधुयें रहा करती थीं[1]। कुछ राजनर्तकियां सामन्त राजाओंके दरबारोंमें भी भेजदी जाती थीं, जो गुप्तचरोंका कार्य करती थीं। राजदरबारियोंमें मुख्य युवराज, अन्य राजकुमार, मंत्रिगण, राजपुरोहित, उनके सहायकगण, सेनापति आदि प्रमुख राजकर्मचारी होते थे। राष्ट्रकूट राजा विद्यारसिक थे। यही कारण है कि उनके राजदरबारोंमें कवियों, ज्योतिषियों और वैद्योंका भी बाहुल्य था। गैरसरकारी दरबारियोंमें राजधानीके प्रमुख वणिक, व्यापार संघोंके मुखिया प्रभृति मुख्य-मुख्य नागरिक होते थे[2]।

मंत्रिमंडलमें प्रधानसचिवके अतिरिक्त अन्य मंत्रिगण भी होते थे। मंत्री प्रायः सम्राट्का दूसरा हाथ (प्रतिहस्तः) समझा जाता था। वह पंचमहाशब्दका अधिकारी सामन्त होता था।

१-नीतिवाक्यामृतम् २४ । २९, ५१ । २-दीरा०, पृ० १५४-१५८ ।

ऐसे प्रत्येक मंत्रीके लिए पूर्ण शिक्षित और राजनीतिमें विशेष पटु होना आवश्यक था। (" पारगो राजविद्यानां कविमुख्य: प्रियंवदः") बहुधा मंत्री राजसेनानी भी होता था। कृष्ण तृतीयके

मंत्रिमंडल ।

राजमंत्री भरतके आश्रयमें रहे हुये महाकवि पुष्पदन्तने राजमंत्री णाण्णके वर्णन द्वारा एक आदर्श मंत्रीका चरित्र चित्रित किया है। कलिकालके दुष्कृतोंको मेंटनेके लिये वह यमरूप होना चाहिये और साहित्य प्रसारके लिये एवं दीनजनोंको संतुष्ट रखनेके लिये वह समुदार होना चाहिये। मंत्रीको अपनी मतिके प्रसारसे शत्रुओंको पराजित करके अपने राजाको चिन्तित फल प्राप्त करा देना चाहिये। मंत्रीको बुद्धिकी प्रखरतामें बृहस्पति तुल्य, राजभक्तिमें हनुमान सदृश, भीष्मके समान शौचधर्ममें आसीन, युधिष्ठिरकी तरह सत्यधर्मरत, और कर्णकी समताका त्यागवीर होना चाहिये। वह पृथिवीकी तरह गुरु और सागरके समान गंभीर होना चाहिये[२]। राष्ट्रकूट राजाओंके मंत्री प्राय: ऐसे ही आदर्श मंत्री हुआ करते थे। मंत्रिमण्डलमें प्रमुखपद सचिव (=Premier) को प्राप्त था। राजा और युवराजकी अनुपस्थितिमें वह सब ही प्रकारका राज-काज किया करते थे। इनके अतिरिक्त (१) महा सन्धिविग्राहक, जो राजशासन लिखाते थे, (२) न्यायाधीश, (३) सेनापति, (४) अमात्य (मालके मंत्री), और (५) भंडागारिक (कोषाध्यक्ष) भी मंत्रिमंडलमें सम्मिलित थे।

राष्ट्रकूट राजाओंने राजपुरोहितको मंत्रिमंडलमें नहीं रक्खा था।

१-एइं० ४। ६०। २-नाच० पृ०, ४-५।

उसका कार्य केवल धर्म और नीतिका संरक्षण करना था । नन्नराज (७०८ ई०) ने 'धर्मांकुश' नामक अधिकारी इस कार्यके लिये अलग ही नियुक्त किया था[1] । मंत्रिमंडल सम्राट्को प्रत्येक राजकाजमें समुचित परामर्श और सहायता देता था ।

राज्य-कर एवं आय-व्यय ।

साम्राज्यकी आमदनी पृथ्वीकर (माल्गुजारी) के अतिरिक्त अन्य करोंके द्वारा भी होती थी । पृथ्वीकर धान्यमें और उत्पत्तिमेंसे २० प्रतिशतके हिसाबसे लिया जाता था । भूड़ जमीनका कर इससे भी कम था । शेरशाह और अकबरके शासनकालमें माल्गुजारी ३३ प्रतिशत थी । उल्लेखनीय कर इस प्रकार थे:—

(१) स्थायी कर—(अ) उद्रङ्ग (माल्गुजारी), (आ) उपरिकर= भोगकर (पान-फूल आदि), (इ) भूत पातप्रत्याय या सिद्धार्थ अर्थात् आगत पदार्थों (उपात्त) और गांवमें उत्पन्न (भूत) पदार्थोंका कर, (ई) विष्टि अर्थात् बेगार (उ) गृहकर आदि ।

(२) अस्थायीकर—(अ) **चाटभट प्रवेशदंड** ('चाट' से अर्थ 'पुलिस' और 'भट' सेनाका द्योतक है । (पुलिस और सेनाके आगमनपर गांववालोंसे उनके लिए यह कर लिया जाता था । कतिपय ग्राम इस करसे मुक्त थे), (आ) राजसेवकानां वसतिदंडप्रयाणदंड अर्थात् राज्याधिकारियोंके गमनागमनके समयका दंड, (३) राज्यावश्यकता-पूर्ति-दंड ।

१–दीरा० पृ० १६६–१७० ।

(३) **राजदंड** (जुरमाना) और (४) **राजकीय सम्पत्तिसे प्राप्त धन**–(१) राज्यकी शेरी (खुद काश्त या शीर) बंजर और पेड़से, (२) कानों व नमकसे और (३) भूगर्भसे प्राप्त धन अथवा उत्तराधिकारी विहीन धन।

इनके अतिरिक्त सामन्तोंसे भी वार्षिक कर प्राप्त होता था।

सामन्तोंसे भी कर लिया जाता था।

सारांशतः राष्ट्रकूट साम्राज्यकी आमदनी प्रचुर और न्याययुक्त थी। प्रजाका शोषण न किया जाकर राष्ट्रकूट सम्राट् उसका पोषण करते थे। राजकीय खर्चकी विगतसे यह बात स्पष्ट है। राजकीय खर्चकी मदें केवल यह चार थीं–(१) दान, (२) राजकोष, (३) शासनप्रबन्ध और (४) प्रजाहित। राष्ट्रकूट सम्राट् प्रायः प्रत्येक उपयोगी धार्मिक संस्थाको दान देनेमें मुक्तहस्त थे और प्रजाहितके कार्योंमें भी वह पर्याप्त धन खर्चते थे। राजकर्मचारियों और सेनाको नियमित रूपमें वेतन दिया जाता था[१]। राष्ट्रकूटोंके सोने और चांदीके सिक्के चलते थे। सोनेके सिक्कोंमें 'गद्याणक' नामक सिक्का १०) मूल्यका, 'सुवर्ण' ७) 'कलन्जु' ५) और 'कासु' १||=) मूल्यका होता था। चांदीका द्रम्म |=) का था।

राष्ट्रकूट साम्राज्य प्रायः बहादुर कौमोंसे भरा हुआ था। उनकी

साम्राज्यकी बहादुर कौमें व सेना।

प्रजा अपनी सैनिक वृत्तिके लिये भुवन-विख्यात् थी। राजसेनामें सब ही जातियों और वर्णोंके लोग भरती किये जाते थे। ब्राह्मण और वैश्य भी सैनिक बनते थे। अनेक

१ दीरा० पृ० २१२–२४५।

जैनी राष्ट्रकूट सेनामें भरती थे और युद्धमें उन्होंने अपना नाम चमकाया था। सेनामें एक प्रकारके सैनिक ऐसे भी थे, जो संतान परम्परासे सैनिकवृत्तिके धारी थे। वह 'मौल' कहलाते थे। सेना चार प्रकारकी होती थी—(१) हाथी, (२) पयादे, (३) रिसाले और (४) रथ। रथोंका प्रयोग बहुत कम, प्रायः शोभाके लिये होता था। उस समय किलोंका महत्व विशेष था। शिवाजीकी तरह राष्ट्रकूटोंने भी अनेक सुदृढ़ दुर्ग (किले) केदल, मोरखंडि आदि स्थानों पर बनवाये थे।

मान्यखेट (मलखेड) मुख्य कटक अर्थात् छावनी (स्थिरीभूत कटक) था। सेनाकी रसदके लिये वणिक भी रक्खे जाते थे। खूबी यह थी कि राष्ट्रकूट सैनिकोंमें प्रायः सब ही शिक्षित थे। उनकी अपनी थोड़ी-सी जलसेना भी थी। युद्धमें राजसेनाके साथ सामन्तोंकी सेना भी भाग लेती थी। सम्राट्के साथ युद्ध क्षेत्रमें उनकी रानियां और अन्य स्त्री-सम्बन्धी भी जाते थे[१]। आवश्यक्ता पड़नेपर कूटयुद्ध भी विधेय था। यही कारण है कि इस समय युद्धके सिलसिलेमें गांवके गांव उजड़ जाते थे[२]। मौल-सैनिकोंको स्थायी-वृत्तिके रूपमें भूमि प्रदान कीजाती थी[३]।

१-पूर्व पुस्तक पृष्ठ २४७-२५८. "......even the Jains used to enlist themselves in the army and distinguish themselves on the battlefield.—Prof. Altekar.

२-नीति वाक्यामृतमें भी कूटयुद्ध व तूषनीक युद्धका विधान है। ३०।९०-९१। ३-नाच० ७, ६, ७। 'को वि भणइ पहु भूमिणियत्तणु, दिण्णउ सरिवि ण करमी णियत्तणु।'

सैनिक निम्नलिखित शस्त्रास्त्रोंका प्रयोग करते थे। (१) छुरिका (२) खड्ग, (३) असि, (४) करवाल, (५) वसुनंदक=तलवार, (६) कुन्त, (७) शूल, (८) सेल, (९) झष, (१०) अंकुश, (११) मुद्गर, (१२) गदा, (१३) मूसल, (१४) चाप, (१५) कोदंड अथवा धनुष-बाण, (१६) परशु और (१७) कवच। पयादे सैनिकोंका विशेष महत्व था[1]।

पुलिस।

दो तीन गांवके बीचमें एक थाना (पुलिस-स्टेशन) होता था। इस प्रकारके ग्रामीण-थाने ग्रामकूट (head-man) के आधीन होते थे। गांवका चौकीदार अपराधियोंका पता लगानेके लिये जिम्मेदार होता था। यदि वह अपराधीका पता नहीं लगाता था तो उसे ही दंड भुगतना पड़ता और हानिकी पूर्ति करनी पड़ती थी। इसी प्रकार नगरोंमें भी पुलिसकी व्यवस्था थी। पुलिस अफसर 'चारोद्धरणिक' अथवा 'दंडपाशिक' कहलाते थे[2]।

राष्ट्रकूट राज्यका प्रभाव।

इस प्रकार सुव्यवस्थित राष्ट्रकूट साम्राज्य समृद्धि और सुख-शांतिका सुस्थल बन गया था। यदि राष्ट्रकूट सम्राटोंको अपने पड़ोसी राजाओंसे युद्ध करनेके लिये बाध्य न होना पड़ता तो संभव था कि उनका रामराज्य अमरलोकके वैभव और सुखको चुनौती देता; परन्तु युद्धोंके बीचमें भी राष्ट्रकूट साम्राज्यका वैभव और व्यापार विश्वविख्यात था। अल्हदरिसी नामक

---

१ नाच० भूमिका, पृ० २८। २ दीरा० पृ० ३६१।

अरब लेखकने लिखा है कि–"राष्ट्रकूट साम्राज्य विस्तृत, बहुजन-पूरित, व्यापारशील और जरखैज (उपजाऊ) था। अधिकांश जनता शाकाहारी थी। चावल, दाल वगैरह ही उसका भोजन था। भारतीय स्वभावतः न्यायप्रिय थे, और अपने दैनिक जीवनमें उसका पालन करते थे। उनकी नेकनीयत, ईमानदारी और विश्वसनीयता लोक-प्रसिद्ध थीं। उनके गुणोंकी प्रसिद्धिके कारण दूर दूरसे लोग आकर इकट्ठे होते थे। इसीलिये देश उन्नतशील है और उसकी दशा समृद्धि-शाली है।" भारतीय देश–विदेशोंसे व्यापार करते थे। यहां अच्छी अच्छी चीजें तैयार की जाती थीं। तरह तरहका कपड़ा बनाया जाता था। पैठन व वरंगलकी मलमलें (muslins) मशहूर थीं। मार्को-पोलो कहता है कि वह मकड़ीके जालेकी तरह महीन और मुलायम थीं। केम्बे, कल्याण, नौसारी, सोपारा, थाना, सैमूर आदि मुख्य बन्दरगाह थे। खानेपीनेकी वस्तुयें बहुत ही सस्तीं थीं। कुछ चीजोंका भाव निम्न प्रकार था:–चावल १) के बत्तीस सेर, अच्छा घी १) का ढ़ाई सेर, और खराब घी १) का ३॥ सेर, तेल १) का ढ़ाई सेर, दाल १) की २५ सेर, नमक १) का ७५ सेर। चीजें खरीदनेमें सिक्कोंके अतिरिक्त अनाजसे बदलनेका रिवाज था। चांवल देकर लोग बदलेमें अन्य पदार्थ लेते थे। केले बहुत सस्ते थे। पशुधन अत्यधिक था। यही कारण है कि एक अच्छीसी भैंस ढ़ाई रुपयेमें तब मिल सकती थी। लोगोंके स्वास्थ्यको उत्तम रूपमें रखनेके लिए घी–दूध और दहीं खूब मिलता था। लोग स्वस्थ्य और भरेपूरे थे[१]।

१-हीरा० पृ० ३५१-३८६।

समाज व्यवस्था।

राष्ट्रकूट-कालमें जाति-व्यवस्था कुछ गरिष्ठ हुई मिलती है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र जातिके ही लोग नहीं थे; मुसलमान लेखकोंने उस समय यहां सात जातियोंको प्रचलित बतलाया है; जैसे—(१) ब्राह्मण, (२) शूद्र, (३) वैश्य, (४) चंडाल, (५) क्षत्रिय, (६) सत्क्षत्रिय, (७) और सत्शूद्र। अल्बेरूनीने लिखा है कि चार वर्णोंकी बसतीवाले गांवसे बाहर सब ही अन्त्यज बसते थे। हाडी, डोम्ब, चंडाल सफाईका काम करते थे। खुरदादवा व अलइदरिसीने लिखा है कि ब्राह्मणादि छै जातियोंके लोग सत्क्षत्रियोंका सम्मान करते थे, जो राज्याधिकारी होते थे। क्षत्रियोंका पतन होरहा था। बहुतेरे उनमेंसे वैश्य और शूद्रपदको प्राप्त होरहे थे, क्योंकि अपने २ वर्णके व्यापारके अतिरिक्त वे अन्य व्यापारोंको भी करने लगे थे।

ब्राह्मणोंने भी अन्य वृत्तियां स्वीकार की थीं। चारों ही वर्णोंके जैनी थे। ह्वेन्त्सांग नामक चीनी यात्रीको चारों ही वर्णोंके राजा भारतमें मिले थे[1]। जैनाचार्य सोमदेवने बाह्याभ्यन्तर विशुद्धि होनेपर शूद्रको भी धर्मकार्योंको करनेका अधिकारी बताया था। इन जातियोंमें परस्पर खानपान भी प्रचलित था। और अनुलोम विवाह भी होते थे। जैनधर्मके प्रचारसे अधिकांश जनता शाकाहारी बन गई थी। इसलिये उनके पारस्परिक व्यवहारमें कठिनाईयां नहीं होती थी[3]।

१—दीरा० पृ० ३१८—३३३।...
—'the Kshatriyas were rapidly going down to the position of the Vaishyas and Sudras—Altekar.

२-नीतिवाक्यामृत ७।१२। ३—दीरा०-पृ० ३३१।

जैनधर्मके प्रचारने लोगोंपर सांस्कृतिक प्रभाव भी डाला था ।

गार्हस्थिक एवं दैनिक जीवन। उस समय पतिकी उत्तराधिकारिणी उसकी विधवा पत्नी होती थी । और पुत्रके न होने पर अथवा उसके अयोग्य होनेपर कन्याको उत्तराधिकार मिलता था । कन्याओंको स्त्रीधन भी प्राप्त थी । कोल्हापुरके एक लेखमें एक कन्या अपनी जमीन बेचती लिखी गई है[१] । यह व्यवस्था जैन नीतिकारोंके अनुकूल है[३] । विवाह-प्रथा भी जैन मर्यादाके अनुकूल थी । विवाहके समय वरकी अवस्था १६ वर्ष और कन्याकी १२ वर्ष होती थी । नीतिवाक्यामृत (२१।२८) में ऐसा ही विधान है । बहु विवाहका अधिक प्रचार था । मामाकी कन्यासे भी विवाह होते थे ।

राष्ट्रकूट राजा कृष्ण द्वितीयके पुत्र जगत्तुंग और इन्द्र चतुर्थका विवाह मातुल-कन्याओंके साथ हुआ था । अनुलोम विवाह प्रचलित थे[४] । क्षत्रियोंके विवाह ब्राह्मण कन्याओंसे होते थे×। वैश्यापुत्रिओंको भी पत्नी बनाते थे[४]×। जैनकवि पुष्पदन्तने स्पष्ट लिखा है कि 'अकुलीन भी स्त्री रत्न ग्रहण करना चाहिये ।' (अकुलीणु वि थीरयणु लइज्जइ ।) और नागकुमारके असवर्ण अर्थात् विजातीय विवाहोंका उन्होंने उल्लेख किया है[५] । स्त्रियोंका उस समय समुचित आदर किया जाता था । अबूजैद लिखता है कि वे परदा नहीं करती थीं । पेटी-

---

१-दीरा० पृ० ३४१-३४२ व JBBRAS X. 177.
२-एइं ३ । २१६ । ३-जैन कानून (श्री चम्पतरायकृत) देखो ।
४-दीरा० पृ० ३३७ व ३४३ । ×-नाच० व अलइदरिसी ।
५-नाच०भूमिका पृ० २७ ।

कोट और साड़ियां पहनती थीं। पुरुष बिला सिले हुए ऊपर और अधो ऐसे दो वस्त्र पहनते थे अर्थात् एक चादर ओढ़ते और धोती पहनते थे। दाढ़ी रखनेका भी रिवाज था। विवाहमें बारात आजकलकी तरह कन्याके घर कहीं कहीं नहीं जाती थी—उल्टी कन्या ही वरपक्षके यहां गाजेबाजेके साथ लाई जाती थी। चित्रोंके द्वारा विवाह सम्बन्ध स्थिर किये जाते थे[२]।

ललितकलायें व क्रीडायें।

देशमें सुख—शान्तिके बाहुल्य और धर्मकी मर्यादाने लोगोंको सुशील, सुशिक्षित, कर्तव्यपरायण और आनंदी प्रकृतिका बना दिया था। स्त्री-पुरुष अपनी शिक्षामें गाना—बजाना और नृत्य करना भी सीख लेते थे। कन्यायें कुमारोंको चैलेंज देतीं कि वीणावादन आदि वादित्रोंमें आकर कोई उनका मुकाबिला करे और जो योग्य कुमार उन्हें अपने कलाकौशलसे उनसे बाजी ले जाता था, वह उनके हृदयका स्वामी बनता था—उनका परस्पर विवाह सम्बन्ध होजाता था। धार्मिक और सामाजिक उत्सवोंके समय पर पुरुष और स्त्रियां मिलकर गाते-बजाते और नृत्य करते थे। 'नागकुमार चरित्र' में कवि पुष्पदंतने बताया है कि नागकुमारने जिनमंदिरमें स्वयं वीणा बजाया और उनकी स्त्रियोंने नाचकर उत्सव मनाया। (५। ११। १२)

उन्होंने यह भी लिखा है कि जयंधर राजाके विवाह समय नगरकी महिलाओंने तांडव नृत्य किया था। (१। १८। २)

१-वीरा० पृ० ३४८। २-नाच० भूमिका पृ० २७। ३-नाच० भूमिका पृ० २८।

पुष्पदन्त कविने निम्नलिखित बाजोंका उलेख किया है: वीणा, अलापिनी, तंत्री (Lute) मर्दल, पटह, दुन्दुभि, ढक्क, बुक्क, भेरी, मृदंग, शंख, झलरि, घंट और तूर्य। आमोद-प्रमोदके लिये उपवन क्रीड़ा और जलक्रीड़ामें समय बिताकर लोग खुशियां मनाते थे। जलक्रीड़ामें जलयंत्रोंका भी प्रयोग किया जाता था। ड्रामा देखनेका भी लोगोंको शौक था। द्यूतक्रीड़ा (जूआ खेलना) भी प्रचलित था। घोड़ेपर चढ़कर पोलोकी तरह गेंदका खेल भी राजकुमार खेला करते थे[3]। अतिथिका सत्कार उच्चासन और पान देकर किया जाता था। शृङ्गारमें चंदन, कुंकुम, कर्पूर, मृगनाभि, तुरुष्क (benzion), लवङ्ग, एलादि सुगंधियों, माणिक्य-मुक्तादि रत्नों और कुंडल, कंकन, नूपुर, हार, ग्रैवेयक और डोरा—मेखला एवं मुकुट आदिका व्यवहार होता था।

शिक्षा।

राष्ट्रकूट-कालमें शिक्षाका प्रचार खूब था। यह हम देख चुके हैं कि राष्ट्रकूट सैनिक भी शिक्षित होते थे। संस्कृत और अपभ्रंश प्राकृत भाषाओंके अतिरिक्त कनड़ी, मराठी आदि भाषाओंकी शिक्षा दी जाती थी। कलश, मंगोलि, सलोती आदि स्थान शिक्षाके केन्द्र थे। जैन मठों और अग्रहारोंमें उपाध्याय लोग बालक बालिकाओंको शिक्षित बनाते थे। शिक्षाका उद्देश्य केवल भाषाज्ञान अथवा कला, विज्ञानमें पटु बना देना ही नहीं था, बल्कि विद्यार्थीको एक सुसंस्कृत नागरिक बनाना इष्ट था। लोगोंमें जैनधर्मकी प्रबल मान्यताका यह

१-दीरा० पृ० ३५०। २-नाग्र० भूमिका पृ० २८ ३-जैशिसं०, भूमिका पृ० ७९। ४-नाच० भूमिका पृ० २९।

परिणाम था कि सब ही शिक्षालयोंमें विद्यार्थियोंकी शिक्षाका आरम्भ ' ॐ नमः सिद्धेभ्यः ' कहकर कराया जाता था। महाराष्ट्रमें आजतक यही प्रथा प्रचलित है और कोई भी ब्राह्मण मतानुसार ' श्री गणेशाय नमः ' कहकर शिक्षाका प्रारम्भ नहीं करता[1]। उस समय सामुदायिक शिक्षा जैनोंके हाथमें थी। जैनाचार्य ही जनताके मुख्य शिक्षक थे। महाकवि पुष्पदन्तने अपने ' नागकुमार चरित्र ' नामक काव्य-ग्रंथमें नागकुमारकी शिक्षा-दीक्षाके वर्णनमें यही लिखा है कि नागकुमारने ' सिद्धं नमः ' (सिद्धं णमह भणेवि अट्ठारह लिविउ भुअंगउ) कहकर अठारह लिपियोंका ज्ञान प्राप्त किया था। उपरान्त वह गणित, गांधर्व, व्याकरण, छन्दालङ्कार, निघंटु (आयुर्वेद), ज्योतिष, काव्य, नाटक श्रुत (दर्शन), मंत्र-तंत्र, कामविद्या, नीतिविद्या आदि विषयोंमें पारङ्गत हुये बताये गये हैं। शास्त्रविद्याके साथ ही प्रत्येक युवक शस्त्रविद्यामें भी निपुण होता था।

उस समयकी जनताको ज्योतिष और सामुद्रिक शास्त्रोंपर अधिक

१-दारा० पृ० ३१७ व १२४ "The literary activity of the Jains was also remarkable in this age and they seem to have taken an active part in the education of the masses. That, before the begining of the alphabet proper the chidren should be required to pay homage to Ganesh by reciting the formula श्रीगणेशाय नमः is natural in Hindu society, but that in the Deccan even to day it should be followed by the Jaina formula ॐ नमः सिद्धेभ्यः shows...that the Jain teachers of our age had so completely controlled the mass education that the Hindu continued to teach their children this originally Jain formula even after the decline of Jainism."—Prof. Altekar. p. 310.

विश्वास था। जैन साधुगण भक्तजनोंके पूछनेपर उनके भविष्यको बखानते थे और शनि आदि गृहोंके प्रकोपको शान्त करनेका धार्मिक उपाय भी बता देते थे[2]। व्याकरण, न्याय, कला, छन्दशास्त्र, अलंकारशास्त्र और दर्शनशास्त्र सब ही विषयोंकी शिक्षा प्रत्येक मनुष्यको दी जाती थी। इन शास्त्रोंपर सर्वसाधारण–ब्राह्मण और चांडालका समान अधिकार एक तीर्थमार्गके समान था[3]। जैन गुरुओंके इस सामूहिक ज्ञान–दानने अज्ञानतमको मेंटनेके साथ ही जनताको उनका कृतज्ञ बना दिया था।

धार्मिक स्थिति।

राष्ट्रकूट कालमें धार्मिक स्थिति भी समुदार थी। यद्यपि स्मार्त पौराणिक हिन्दूधर्म पहलेसे प्रचलित था, परन्तु वह जैनधर्मके उत्कर्षमें बाधक नहीं हुआ था। इन दोनों धर्मोंके साथ बौद्धधर्म भी प्रचलित था; परन्तु वह शीघ्रतासे पतितोन्मुख हो रहा था[4]। राष्ट्रकूट सम्राट् स्वयं धार्मिक उदारता रखते थे। राष्ट्रकूट वंशकी गुजरात शाखाके राजा कर्क स्वर्णवर्ष यद्यपि शैव थे, परन्तु उन्होंने नौसारीके जैन विहारको दान दिया था[5]। इसी तरह सम्राट् अमोघवर्ष यद्यपि जैनधर्मा-

---

१–नाच० भू० पृ० २९ व पृ० २४। २–दीरा०, पृ० ३५१, गोविंद तृतीयके कडव दानपत्रसे स्पष्ट है कि एक जैनाचार्यने शनिगृह दोष निवारण किया था। EI., IV 340.

३ लोको युक्तिः कलाश्छन्दोऽलंकाराः समयागमाः।
सर्वसाधारणाः सद्भिस्तीर्थमार्ग इव स्मृताः ॥२०॥ यशस्तिलकचम्पू।

४–दीरा० पृ० २७२–२८४.

५–Surat Plate, 821 A D., EI XXI.

नुयायी थे, परन्तु वह हिंदूदेवता 'महालक्ष्मी' के भी भक्त कहे जा सकते हैं। जब उनसे यह कहा गया कि उनकी प्रजामें जो रोगका प्रकोप होरहा है, वह शमन हो सकता है, यदि सम्राट् महालक्ष्मीको प्रसन्न करें, तब उन्होंने सहर्ष अपनी उंगली काटकर देवीको भेंट चढ़ा दी[1]। हो सकता है कि इस त्यागवृत्तिमें प्रजाहितकी भावना फलवती रही हो। जो हो, यह स्पष्ट है कि जैनधर्मका अनेकान्त-सिद्धान्त अपने उपासकको सद्दृष्टि प्रदान करता है—वह उसके एकान्त पक्षको नष्ट कर देता है और उसे विवेकी बनाकर परोपकारी और सहनशील बना देता है।

राष्ट्रकूट कालमें जैनधर्म प्रधान था। उसने लोगोंको सहनशील और उदार बना दिया। यही कारण है कि एक ही वंशमें जैन और शैव दोनों मतोंके माननेवाले मिलते हैं और दोनों ही अहिंसक होते थे। चालुक्य सम्राट् जयसिंहका वेलूरवाला शिलालेख (सन् १०२२) इस विषयका मनोरंजक प्रदर्शन करता है। उसमें दानदातृ श्री० अक्कादेवी एक साथ ही जिनेन्द्र, बुद्ध और अनन्त (विष्णु×रुद्र×त्रिपुरुष) देवोंकी उपासिका बताई गई हैं। एवं उन्होंने तीनों ही देवोंका एक मन्दिर बनवाया था[2]। धरवारके दम्बल शिलालेख (११ वीं० श०) से प्रगट है कि यद्यपि उस लेखका दातार शैव था, परन्तु उसके मंगलाचरणमें पहले जैन मुनीन्द्रोंको नमस्कार किया गया था[3]।

इन उल्लेखोंसे स्पष्ट है कि स्मृतिशास्त्रोंमें जैनोंका निषेध स्मार्त

१-Sanjan Copper pl., EI., XVIII, p. 248.
२-इंए०, भा० १८ पृ० २७४. ३-इंए०, भा० १० पृ० १८८.

पौराणिक मतानुयायी हिंदुओंके निकट कुछ महत्व नहीं रखता था[1]। बल्कि वैदिक यज्ञों और बलिदानोंका प्रचार भी जनतासे उठ गया था[2]। वस्तुतः जैन और शैव पर-मत-सहिष्णु होगये थे। जैनोंके अहिंसा सिद्धांतने वैदिक मतानुयायी हिंदुओंके जीवन और दृष्टिबिंदुको ही बदल दिया था। वह जैनियोंकी तरह दयालु होना सीख गये थे। उधर जैनियों पर भी वैदिक क्रियाकांडका थोड़ासा असर पड़ा कहा जासकता है, जैसे कि पाठक आगे पढ़ेंगे। सारांशतः तत्कालीन धार्मिक स्थिति श्लाघनीय थी!

जैनधर्मोत्कर्षके कारण।

उस समय जैनधर्मोत्कर्षका मुख्य कारण तत्कालीन शासक राजवंशोंके राजाओंका जैन धर्म भक्त होना था। वे जैन गुरुओंके शिष्य थे और अपनी शासन व्यवस्थामें उनके आदेशका पूरा ध्यान रखते थे। यही नहीं कि राष्ट्रकूट राजा ही केवल जैनधर्मके संरक्षक थे, बल्कि हम देख चुके हैं कि प्राचीन कदम्ब, चालुक्य और गंग राजवंशोंके राजा भी जैन धर्मानुयायी अथवा जैन धर्मके आश्रयदाता थे। इन राजाओंके अनेक सामन्तगण भी जैन धर्मके उपासक थे। जहां एक ओर जैनधर्मको राज्यका आश्रय मिला था, वहां दूसरी ओर श्री समंतभद्र अकलंक, विद्यानंदि, माणिक्यनंदि, प्रभाचंद्र, जिनसेन, गुणभद्र आदि

१–प्रजापति स्मृति (५-९५) में श्राद्धके समय जैन मंदिरमें जानेका निषेध, उस समय निरर्थक था।

2–"Vedic Sacrifices grown unpopular"—Altekar, p. 279 "......(it) may be attributed to the great influence of Jainism during our period."—Altekar p. 294.

उद्भट विद्वान् और चारित्रवान तपस्वी आचार्योंके बाहुल्यने उसका प्रचार दिगन्तव्यापी बना दिया था। वह अपनी दिव्य प्रभा और महान् व्यक्तित्वका प्रभाव प्रत्येक हृदयपर डालते थे। राजदरबारोंमें जाकर वह पर-वादियोंका मान गलित करके जैनधर्मका सिक्का लोगोंके हृदयों-पर जमा देते थे और उन्हें सीधा सादा सुखमार्ग सुझाते थे। यही कारण है कि जैनधर्म उससमय उन्नतिशील हो रहा था—उसके मार्गमें कोई भी बाधक कारण नहीं था।

जैन धर्मके केन्द्र।

इस कालमें जैनधर्मके केन्द्रस्थान लक्ष्मेश्वर, धर्मपुरी, बनवासी; सौन्दत्ति, गंगधारा, मान्यखेट प्रभृति अनेक उल्लेखनीय स्थान थे। वर्तमान धारवाड़ जिलेका पुलिगेरी नामक प्राचीन स्थान ही लक्ष्मेश्वर हैं। वहां आज भी अनेक महत्वपूर्ण जैन मंदिरोंका समूह है, जिनमें मुख्य संखवस्ती और हलवस्ती नामक मन्दिर हैं[1]। गंगों और चालुक्योंके समयमें भी यहां जैनधर्म प्रबल था, यह बात इन मन्दिरोंके लेखोंसे स्पष्ट है। वर्तमान सालेम जिलेका तगडूर नामक स्थान प्राचीन धर्मपुरी बताया जाता है। यहां कई जैन मंदिर थे। सन् ८९३ में एक नोलम्ब सरदारने यहांके एक जिन मंदिरके लिये कनकसेन भट्टारकको भूमिदान दिया था[2]। उत्तर कनड़ा जिलेमें बनवासी आज हीनप्रभ हुआ मिल रहा है। यह कदम्ब वंशके समयसे ही जैन केन्द्र

१ बंप्राजैस्मा०, पृ० १२३। २ मजै० (Med: Jainism) पृ० २३८ धर्मपुरीके जैन मठको एक श्रेष्ठीने राजासे गांव खरीदकर भेंट किया था। दीरा० पृ० ३११।

बना हुआ था। बलात्कारगणकी एक शाखा इस नगरमें विद्यमान थी। यहांके धनाढ्य जैनी अन्य स्थानोंपर भी जैन मन्दिर बनवाते थे[1]।

जैन मान्यता है कि हरिवंशी राजा चरमने बनवासको बसाया था[2]। सम्राट् अशोकने अपने धर्मदूत यहां भेजे थे[3]। श्रवणबेल्गोलके अनेक लेखोंमें इसका उल्लेख है। बनवासीके साथ ही बंकापुर भी एक प्रसिद्ध जैन केन्द्र था। राष्ट्रकूट सम्राट् अमोघवर्षके सामन्त चेल-केतनवंशके राजा बंकेयरसुके नामकी अपेक्षा इसका नाम बंकापुर पड़ा था[4]। यहांपर नगरसेठ हरिकेशरी देवने पांच धार्मिक महाविद्यालयोंको स्थापित किया था।

यहां पर कई जिनमंदिर थे, जिनको चालुक्यादि नरेशोंने दान दिया था। बंकापुरके शासक भी जैन थे, जिनके द्वारा धर्मप्रभावनाके अनेक कार्य हुए थे। बंकापुरमें जैनाचार्योंका वास अधिक रहता था। यही कारण है कि इसकी गणना पवित्र स्थानके रूपमें होती थी। भावुक श्रावक जैसे गंग नरेश मारसिंह यहीं आकर जैन गुरुओंके चरणोंमें सल्लेखना व्रत सम्पन्न करते थे। दंडाधिप हुलने यहां पर कैलास जैसा उत्तुंग एक जिनालय निर्माण कराया था। कई एक जैनशास्त्र भी यहां रचे गये थे[5]। सौन्दत्ति आज कल बेलगामसे ४० मील पूर्वकी ओर अवस्थित है। वहां एक प्राचीन जैन मंदिर भी है,

---

१ बंप्राजैस्मा०, पृ० १३१ व मेजै०, पृ० ३३५ व ३४०।
२ हरि० १७। २७। ३ ऐंजाइं० पृ० ७४४। ४ बंप्राजैस्मा० पृ० ११५।
५ बंप्राजैस्मा०, पृ० ११५-११६, व मेजै पृ० १२९ व १४४,

जिसमें रट्ट वंशके राजाओंके कई शिलालेख अंकित हैं[1]। दशवीं श०में गंगधारा दक्षिण कर्णाटक प्रदेशमें जैनोंका एक मुख्य केन्द्र था। इस स्थान पर रह कर ही श्री सोमदेवाचार्यने 'यशस्तिलकचंपू' और 'नीतिवाक्यामृत'की रचना की थी[2]!

मान्यखेट राष्ट्रकूट राजाओंकी राजधानी थी। निजाम रियासतमें आजकल प्राचीन मान्यखेट एक छोटासा ग्राम मलखेड़ नामका है। पहले यहां चौदह दि० जैन मंदिर थे, परन्तु अब केवल एक शेष है। श्री जिनसेनाचार्यजीने 'पार्श्वाभ्युदय काव्य' यहीं रचा था। यहीं राजमंत्री णण्णके आश्रयमें रह कर महाकवि पुष्पदन्तने 'महापुराण' आदि ग्रंथोंकी रचना की थी। कहते हैं कि प्रसिद्ध जैनाचार्य अकलंक स्वामीका जन्म यहीं हुआ था। वह राजा शुभतुंगके मंत्री पुरुषोत्तम और उनकी भार्या पद्मावतीके पुत्र थे; परन्तु 'राजवार्तिक'में उन्होंने अपनेको लघुहव्व नामक राजाका पुत्र लिखा है[3]।

मान्यखेट।

हम देख चुके हैं कि राजमंत्री सामन्त हुआ करते थे, जो राजा कहलाते थे। इसलिये संभव होसकता है कि लघुहव्व नामक राजा एक राजमंत्री हों और उन्हींका उल्लेख 'आराधना कथाकोष' में पुरुषोत्तम नामसे किया गया हो। इसमें शक नहीं कि उस समय मान्यखेट जैनधर्मका एक प्रमुख केन्द्रस्थान था। सम्राट् अमोघवर्ष प्रथमने इसे सन् ८१५ ई० में बसाया था। उस समय इसका सौन्दर्य देवलोककी

१ बंप्राजैस्मा० पृ० ८३-८६, २. दीरा०, पृ० ४११, ३ बंप्राजैस्मा०, पृ० १६१-१६२ व मेजै०, पृ० २३१ व २५९।

अमरपुरीको भी चुनौती देता था। वह बहु जनपूर्ण, रमणीक बाग बगीचोंसे शोभायमान और गगनचुम्बी महलों और जिन मंदिरोंसे मंडित था। साहित्यक प्रगतिका मुख्य केन्द्र भी उन दिनों यह हो रहा था। अनेक जैनशास्त्रोंकी रचना यहीं हुई थी! यहांके लोग बड़े ही धर्मात्मा और दयालु थे[1]। मान्यखेटके इन्हीं गुणोंपर मुग्ध होकर महाकवि पुष्पदन्तने उसके विषयमें जो हृदयोद्गार प्रगट किये वह सार्थक है:—

'दीनानाथधनं सदा बहुजनं प्रोत्फुल्लवल्लीवनं,
मान्यखेटपुरं पुरंदरपुरीलीलाहरं सुन्दरम्'।

जैनधर्मका तत्कालिक रूप।

जैनधर्म अपने तात्त्विक रूपमें यथाविधि तब मिल रहा था। तत्कालीन साहित्यसे स्पष्ट है कि तब जैन संघमें सात तत्व, जीवादि षट्द्रव्य, कर्मसिद्धांत आदि वैसे ही मान्य थे[2] जैसे कि आज वे मान्य हैं। हां, जैनसंघकी जीवन चर्यामें अवश्य अन्तर था। मुनिजन जैनमठोंमें रहने लगे थे[3]। वहां उनके शिष्यगण भी रहते थे। प्रत्येक मठमें आहार और औषधिदान बांटनेकी व्यवस्था थी। पात्रोंके अतिरिक्त सर्वसाधारणको भी करुणादान दिया जाता था। आचार्य और उपाध्याय मठोंमें जैन शास्त्रोंकी शिक्षा दिया करते थे[4]। अबूजैदने मंदिरोंमें शिक्षामठों और दानशालाओंका उल्लेख किया

---

१ नाच०, भूमिका पृ० २०। २ नाच०, पृ० ९। ३ श्री० गुणभद्राचार्यने 'आत्मानुशासन' में भी ऐसा उल्लेख कटाक्ष रूपमें किया है। ४ JBBRAS., X. 237.

है । प्रत्येक मंदिरमें तीन दफा पूजा हुआ करती थी[१] । फूल और हार चढ़ानेका रिवाज खूब था[२] । जैन मंदिरोंकी पूजापर हिंदू मंदिरोंके क्रियाकाण्डकी छाया पड़ी कहीं जा सकती है ? क्योंकि अमोघवर्षके कोन्नुर दानपत्रसे प्रगट है कि जैनमठको वह दान बलिचरुदान, वैश्यदेव और अग्निहोत्रके लिये दिये गये थे[२] । इन क्रियाओंका उल्लेख हिन्दू राजाओंके लेखोंमें मिलता है ।

श्री० जिनसेनाचार्यने शायद पहले ही पहले अपने आदिपुराण' ग्रंथमें इन क्रियाओंका विधान इस समय किया । उनसे पहले हुए श्री समन्तभद्राचार्यजीके 'रत्नकरण्डक श्रावकाचार'में उनका उल्लेख नहीं मिलता है । जैन मंदिरोंमें 'अंगभोग' और 'रंगभोग' किये जानेका भी उल्लेख इस समयके लेखोंमें बताया जाता है[३] । रंगभोगसे मतलब संभवतः धार्मिक

---

१ EI., III. 300. २ EI. XXI. दीरा० पृ० ३१४ ।

३-" The Jain temples of our period had become replicas of the Hindu Temples. The worship of Mahavira was just as sumptuous and luxurious as that of Vishnu & Shiva. Epigraphical records are seen making provision for his Angabhoga & Rangabhoga just as they do in the case of the Hindu dities." p. 314.

प्रो० अल्तेकरका यह कथन है कि जैन तीर्थंकर महावीरकी पूजा वैसी ही धूमधाम और भोगपूर्ण होने लगी थी जैसे हिंदुओंके विष्णु और शिवजीकी होती थी, क्योंकि लेखोंमें जैन पूजाके प्रसंगमें अंगभोग और रंगभोगका उल्लेख है, जो जीको नहीं लगता । यह अवश्य है कि इस समय जैन पूजामें सरागता अधिक बढ़ गई थी, परंतु वह ऐसी नहीं थी कि उसमें शिवजीकी तरह भोग लगाया जाता हो । यदि ऐसा होता तो इसकी आभा उस समयके जैन ग्रन्थोंमें मिलती । उस दशामें भस्मकरोग होनेपर जैन मुनियोंको अपनी क्षुधाकी ज्वाला शमन करनेके लिये शिवालयोंकी शरण नहीं लेना पड़ती ।

ड्रामा खेलनेसे होगा। जैन मंदिरोंमें भक्तजन तब संगीत और नाट्यका सहारा लेकर अपनी भक्तिका प्रदर्शन करते थे।

मालूम होता है कि जनतामें द्यूतक्रीड़ा व्यसनकी बहुलता थी जैसे कि 'नागकुमार चरित्र' ग्रन्थसे प्रगट है। इस व्यसनसे श्रावकोंको बचानेके लिये ही शायद श्री जिनसेनाचार्यजीने श्रावकके मूलगुणोंमें 'मधुत्याग' के स्थान पर द्यूत-क्रीड़ा त्यागका विधान किया था। इतना ही नहीं उसी समय नामके श्रावकोंके लिये भी अर्थात् व्रती श्रावकोंके अतिरिक्त अव्रती श्रावकोंके लिये भी आठ मूलगुणोंका विधान किया गया था। यह आठ मूलगुण मधु-मांस-मदिरा त्यागके साथ पांच उदम्बर फलोंके त्यागरूप बहुत ही सरल थे। अणुव्रतोंके पालनकी कठिनाई इनमें नहीं थी। हां, व्रती श्रावकोंको उस समय इनके अतिरिक्त पांच अणुव्रतोंका पालन करना ही पड़ता था[1]।

मुनि परम्पराका सद्भाव होनेसे श्रावक संघका नियंत्रण दिगम्बराचार्योंके हाथमें था। वे मठोंमें रहते हुये शुभोपयोगके धार्मिक कार्योंको सम्पन्न करते थे। मठोंकी व्यवस्था और सम्पत्तिका भार भी उनपर था। श्रावकोंकी शिक्षा-दीक्षाकी देखभाल भी वही करते थे। उन्हें धर्म-मार्गमें आगे बढ़ानेका निरन्तर उपदेश दिया करते थे। वर्षाके अन्तमें पर्यूषण पर्व स्वयं मनाते थे और उसमें श्रावकोंको भी सम्मिलित करते थे। चैत्र मासमें आठ दिनका उत्सव मनाते थे[2]।

१-जैनाचार्योंका शासनभेद (बम्बई) पृ० ७-१५. २-इंएं०, भा० ७ पृ० ३४...व दीरा० पृ० ३१३. यहां शायद अष्टाह्निकापर्वसे मतलब है, परंतु यह फाल्गुन मासमें होना चाहिये।

अष्टमी–चतुदर्शी अतिरिक्त हिंदुओंकी तरह जैनी भी उत्तरायन और दक्षिणायन संक्रांतिके दिनोंको पवित्र मानते थे।

रट्टराजाओंके दानपत्रोंसे स्पष्ट है कि वे इन दिनोंमें विशेष रीतिसे जैन गुरुओंको दान देते थे[1]। जैन गुरु श्रावकोंको अपने ज्योतिष ज्ञानका लाभ उठाने देते थे। ग्रहोंके दोषनिवारणका भी वह उपाय करते थे। सारांश यह कि अपनी आत्माके कल्याणके हेतु मुनिजन ज्ञान ध्यानमें रत रहते हुए भी जनसाधारणका उपकार करना अपना कर्तव्य समझते थे। उस समय राजा और प्रजाके पथ-प्रदर्शक जैन गुरु ही थे। इसलिये जैनधर्म उन्नतिशील होरहा था।

दीक्षान्वय व प्रायश्चित्त प्रचलित थे।

राष्ट्रकूट साम्राज्यमें देश-देशांतरोंसे आकर लोग बस गये थे। बहुतसे अरबके मुसलमान भी यहां आ बसे थे। वे यद्यपि हिन्दू पोशाक और हिंदू भाषा बोलते थे, परन्तु अपने धार्मिक विश्वासके अनुसार जीवन यापन करनेमें स्वाधीन थे।[2] उन मुसलमानोंने तत्कालीन धार्मिक उदारतासे लाभ उठाया था। हिंदूओंमें इस्लामका प्रचार करनेका मौका वह हाथसे जाने नहीं देते थे। किंतु हिंदू भी उनको अपने मतमें वापस लेनेमें हिचकते नहीं थे[3]। उस समय जैन गुरुओंको भी जैन संघकी वृद्धि करनेका ध्यान था। अपराधी हीनाचारियोंको प्रायश्चित्त दिया जाता था और उन्हें

१–दीरा०, पृ० ३०१. २–दीरा०, पृ० २७६. ३–दीरा०, पृ० ३७४ मुसलमान लेखक अलउत्बीके उल्लेखसे भी शुद्धिका समर्थन होता है। (Elliot, II, 32-33).

पुन: धर्ममें स्थिर किया जाता था। साथ ही जो लोग धर्मेच्छु दीखते थे उन्हें समुचित रीतिसे जैन धर्मकी दीक्षा दी जाती थी।

महाकवि पुष्पदन्तके माता-पिता जैन धर्ममें दीक्षित किये गये थे[1]। श्री जिनसेनाचार्यने 'आदिपुराण' में दीक्षान्वय क्रियाओंका विधान किया था और श्री सोमदेवसूरिने 'यशस्तिलकचम्पू'में स्पष्ट लिखा था:—

" नवैः संदिग्धनिर्वाहै र्विदध्याद्गणवर्धनम्।
एकदोषकृते त्याज्यः प्राप्ततत्त्वः कथं नरः॥
यतः समयकार्यार्थो नानापंचजनाश्रयः।
यतः संबोध्य यो यत्र योग्यस्तं तत्र योजयेत्॥
उपेक्षायां तु जायेत तत्त्वाद् दूरतरो नरः।
ततस्तस्य भवो दीर्घः समयोऽपि च हीयते"॥

भावार्थ—" ऐसे ऐसे नवीन मनुष्योंसे अपनी जातिकी समूह-वृद्धि करनी चाहिये जो संदिग्धनिर्वाह हैं। (और जब यह बात है तब) किसी एक दोषके कारण कोई विद्वान् जातिसे बहिष्कारके योग्य कैसे हो सकता है? चूंकि सिद्धान्ताचार विषयक धर्मकार्योंका प्रयोजन नाना पंचजनोंके आश्रित है—उनके सहयोगसे सिद्ध होता है। अत: समझाकर जो जिस कामके योग्य हो उसको उसमें लगाना चाहिये—जाति या संघसे प्रथक् नहीं करना चाहिये। यदि किसी दोषके कारण एक व्यक्तिकी खासकर विद्वान्की उपेक्षा की जाती है—उसे जातिमें रखनेकी पर्वाह न करके जातिसे प्रथक् किया जाता है तो उस उपेक्षासे वह मनुष्यतत्वसे बहुत दूर जा पड़ता है। तत्वसे दूर

१–नाच० भू० पृ० १९.

जा पड़नेके कारण उसका संसार बढ़ जाता है और धर्मकी भी क्षती होती है[1]।"

इस उद्धरणसे स्पष्ट है कि तत्कालीन जैनाचार्योंको लोककल्याणका पूरा ध्यान था। वह प्रत्येक प्राणीका आत्महित करना आवश्यक समझते थे। धर्ममार्गमें जातिकुलका बन्धन बाधक नहीं ठहराते थे। ब्राह्मण या शूद्र कोई भी मनुष्य जो श्रावक धर्मको पालता था, वही श्रावक था। श्रावकके लिये और कुछ पात्रता आवश्यक नहीं थी[2]। इसीलिये यह विधान किया गया है कि ऐसे लोगोंको ग्रहण करके अपने गण अथवा जातिकी वृद्धि करना चाहिये, जिनके विषयमें यह संदेह हो कि वह आचार-विचारका यथेष्ट पालन कर सकेंगे या नहीं! क्योंकि यदि वे जैन संघके सम्पर्कमें आ जांयगे तो उनका आत्मा उत्तरोत्तर शुभोपयोगकी ओर बढ़ता जायगा, जिससे उनकी आत्मशुद्धि होना संभव है।

कदाचित धर्माचारको पालते हुये पूर्वोपार्जित कर्मोदयसे कोई दोष लग जावे तो उसका निवारण भी उनको समझाकर और प्रायश्चित्त देकर किया जा सकता है। इस प्रकार धर्म और संघका हित साधना ही चाहिये। जिनसेनाचार्यने भी प्रायश्चित्त देकर दोषशुद्धिका उपदेश अपने 'महापुराण' ग्रन्थमें दिया है[3]। उस समय दोषशुद्धिके लिये बलात्कार प्रायश्चित्त देनेका उल्लेख मिलता है[4]। इस समुदारवृत्ति और समुचित धर्मव्यवस्थाने तत्कालीन जैनधर्म और जैन संघकी

१–विवाह-क्षेत्र-प्रकाश, पृ० ३७–३८. २–सावयधम्मदोहादि ग्रंथ देखो। ३–आदि०, पर्व ४० श्लोक १६८–१६९. ४–दीरा०, पृ० ३०४.

श्रीवृद्धिकी थी। तब एक ओर बड़े बड़े राजा महाराजा उसके उपासक थे तो दूसरी ओर गांवके काछीकिसान भी उसके भक्त थे।

जैनधर्म और राष्ट्रकूट नरेश।

राष्ट्रकूट वंशके राजाओंका वैवाहिक संबंध कलचूरी, मंग आदि जिन राजवंशोंसे था, सौभाग्यवश वे भी जैन-धर्मके अनन्य संरक्षक और भक्त थे। यही कारण है कि राष्ट्रकूट राजाओंको भी जैन धर्मसे प्रेम था और उनमेंसे कई राजाओंने जैनधर्मकी दीक्षा ली थी। कई जैनाचार्य उनके धर्मगुरु थे और कई विद्वानोंका उन्होंने सम्मान किया था। चोलोंसे उनके जो युद्ध हुये, वह धर्मयुद्ध कहे जा सकते हैं; क्योंकि चोल शैव थे और राष्ट्रकूट जैनधर्मके संरक्षक थे[1]।

दंतिदुर्ग।

उपलब्ध साक्षीसे प्रगट होता है कि सम्राट् दंतिदुर्ग द्वितीय ही पहले-पहले जैनधर्मके सम्पर्कमें आये थे। जैनाचार्य अकलङ्कदेवने उनके राजदरबारमें आकर जैनधर्मका महत्व प्रगट किया था। उपरांत सम्राट् ध्रुवराजके पुत्र रणवलोक (स्तम्भ) कम्बय्य जैनधर्मके सम्पर्कमें आये मिलते हैं। सम्राट् ध्रुवने गंगराज शिवमार द्वितीयको कैद कर लिया था, तब राजकुमार कम्बय्य गंग प्रदेशके शासक नियुक्त किये गये थे। उस समय उन्होंने जैनधर्मके लिये कई उल्लेखनीय कार्य किये थे। जब उनके पुत्र शङ्करगणने आकर उनसे प्रार्थना की कि वह तलवनपुर (तलकाड) के 'श्रीविजय-वस्ती' नामक मंदिरके लिए

१-जैशिसं०, भूमिका पृ० ७७. २-मेजै० पृ० ३५.

कुछ दान देवें, तब उन्होंने कोण्डकुन्दान्वयी भट्टारककुमार नंदिके प्रशिष्य और एलवाचार्य गुरुके शिष्य दयालु और पवित्र-हृदय विद्वान् वर्द्धमान गुरुको वदनगुप्पे नामक ग्राम भेंट किया था। रणावलोक कम्बका शिविर उस समय तलवनपुरमें ही था।

हम देख चुके हैं कि ध्रुव नरेशने अपना उत्तराधिकारी अपने कनिष्ठ पुत्र गोविन्द तृतीयको बनाया था।

कम्ब एवं गोविंद। कम्ब गंग प्रदेशके वे शासक रहे थे, परन्तु उन्होंने एक असफल उद्योग राज्यको हथियानेके लिये किया था, जिसमें आखिर उन्हें गोविन्द तृतीयका आधिपत्य स्वीकार करना पड़ा था। कम्बने अपने भाई गोविन्दको भी जैनधर्म-प्रभावनाके लिये उत्साहित किया था। गोविन्दने मान्यपुरके मंदिरके लिये जलमंगल नामक ग्राम भेंट किया था। कम्बसे भी संभवतः गोविन्दके कहनेसे मान्यपुरकी श्रीविजय-वस्तीके लिये परवाडिपुर नामक ग्राम दान दिया था। जैन मुनिगण इन राजाओंके दरबारमें निशङ्क होकर आते जाते थे।

श्रावणबेलगोलके शिलालेख नं० ५४ से प्रगट है कि अकलङ्क देवके सहपाठी पुष्पसेन मुनिके शिष्य विमलचन्द्र मुनि एक बड़े तर्कवादी थे। उन्होंने अनेक पर-वादियोंका मान मर्दन किया था। एक दफा यह मुनिराज शत्रुभयङ्कर राजाके विशाल राजमहलके द्वारपर पहुँचे, जहां अनेक राजाओंकी अश्व और हाथियोंकी सेनायें मौजूद थीं। उस द्वारपर उन्होंने शैव, पाशुपत, बौद्ध आदि वादियोंके लिये नोटिस

१-जैशिसं०, भूमिका पृ० ७८. २-मेजै० पृ० ८८. ३-मेजै० पृ० ३७.

लगा दिया था[१]। विद्वानोंका अनुमान है कि गोविंद तृतीय ही 'शत्रुभयंकर' नामसे अपने शौर्यके कारण प्रसिद्ध हुए थे[२]। अतएव मुनि विमलचन्द्रजीने उनको ही अपनी विद्वत्तासे प्रभावित किया। शायद मुनिराजके यह सम्राट् अनन्य भक्त हो गये थे। यही कारण है कि मुनिराज सम्राट् गोविन्दके राजमहलके द्वारपर नोटिस लगाकर पर वादियोंका मान गलित करते हैं। गोविन्दराजने जैनाचार्य विजय-कीर्तिके शिष्य अरिकीर्तिको भी दान दिया था[२×]। कह नहीं सकते कि उनके द्वारा धर्मप्रभावनाके और क्या कार्य हुये थे।

अमोघवर्ष प्रथम। गोविन्द तृतीयके उपरान्त राष्ट्रकूटराज—सिंहासनपर अमोघवर्ष प्रथम आरूढ़ हुये थे। अमोघवर्ष एक महान् शासक थे। आपकी प्रसिद्धि दिगन्तव्यापी थी। अरब लेखकोंने उनकी गणना उस समयके विश्वविख्यात् नरेशोंमें की है। अमोघवर्ष स्वयं जैनधर्मके उपासक थे और उनके समयमें जैनधर्मका महान् उत्कर्ष हुआ था[३]। अनेक जैना-चार्य उनकी राजसभाकी शोभा बढ़ाते थे। स्वयं श्री जिनसेनाचार्य उनके गुरु थे।

श्री गुणभद्राचार्यने 'उत्तरपुराण'में लिखा है कि 'जिनको

---

१ जैशिसं० भू० पृ० १३९। २ पेजं०, पृ० ३६–३७. २×–जैसाइं०, पृ० ७२ –" Amoghavaısha I ı.s undoubtedly a follower of ...... '—Atıkar, p. 273.

" ......o all the Rashtrakutas, Amoghvarsha was the atest patron of Jainism and 'hat he himself adopted the faith seems true."—Dr. Bhandarkar. बंगै०, भा० १ पृ० २०१.

प्रणाम करनेसे राजा अमोघवर्ष अपनेको पवित्र मानता था, वह श्री जिनसेनाचार्य जगत्के मङ्गलरूप हैं"[1]। जिनसेनरचित 'पार्श्वाभ्युदयकाव्य'से भी इसी बातकी पुष्टि होती है[2]। उन्होंने मान्यखेटमें रह कर ही 'आदिपुराण' और संभवतः 'पार्श्वाभ्युदयकाव्य' भी रचा था। 'पार्श्वाभ्युदय'में आचार्य महाराजने स्पष्टतः अपने शिष्य राजा अमोघवर्षको आशीर्वाद देते हुये लिखा है कि वह चिरंजीवी हो[3]। इसी तरह 'गणितसारसंग्रह'के रचयिता श्री महावीराचार्यने भी सम्राट् अमोघवर्षको 'स्याद्वादधर्म' अर्थात् जैन धर्मका अनुयायी बताया है[4]। उन्होंने लिखा है कि अमोघवर्षके राज्यमें प्रजा सुखी रहती है और पृथ्वीसे खूब धान्य उत्पन्न होता है। एकांत पक्षका नाश करके स्याद्वाद न्यायमें वादी बने, जैनधर्मानुयायी राजा नृपतुंग (अमोघवर्ष) का राज्य उत्तरोत्तर वृद्धि करता रहे। सारांशतः तत्कालीन जैन लेखक सम्राट्

१-यस्य प्रांशुनखांशुजालविसरद्धारान्तराविर्भव-
स्पादाम्भोजरजः पिशङ्गमुकुटप्रत्यग्ररत्नद्युतिः।
संस्मर्ता स्वममोघवर्षनृपतिः पूतोऽहमद्येत्यलं
स श्रीमाञ्जिनसेनपूज्यभगवत्पादो जगन्मङ्गलम्॥ उपु०

२-इत्यमोघवर्षपरमेश्वरपरमगुरुश्रीजिनसेनाचार्यविरचिते मेघदूतवेष्टिते पार्श्वाभ्युदये भगवत्कैवल्यवर्णनं नाम चतुर्थः सर्गः।

3 "In his **Parsvabhyadaya** Jinasena blesses his royal pupil and wishes that he might reign long."—Early Hist: of Deccan, p. 68.

४ "प्रीणितः प्राणिशस्यौघो निरीतिर्निरवग्रहः।
श्रीमतामोघवर्षेण येन स्वेष्टहितैषिणा॥
...विध्वस्तैकान्तपक्षस्य स्याद्वादन्यायवादिनः।
देवस्य नृपतुङ्गस्य वर्द्धतां तस्य शासनम्॥"

अमोघवर्षको जैन धर्मके स्थंभरूप परम उपासक घोषित करते हैं। निस्सन्देह वह जैन धर्मके अनन्य भक्त थे और उसके उत्कर्षके लिये उन्होंने कुछ उठा नहीं रक्खा था।

अमोघवर्षका जैनत्व। अलइदरिसी नामक अरब लेखकने लिखा है कि बल्हर (वल्लभराय) बुद्धकी मूर्तिकी उपासना करते थे[1]। यह उल्लेख राष्ट्रकूट सम्राट् अमोघवर्षके लिये ही हो सकता है और बुद्धसे अभिप्राय यहां जिनमूर्तिसे ही है; क्योंकि बौद्धधर्म उस समय क्षीण हो गया था और अरब लेखक बहुधा जैनोंका उल्लेख बौद्ध नामसे कर देते थे[2]। उस समय जिनमूर्तियां दिगम्बर (नग्न) निर्मित की जाती थीं, यह बात अल्बेरूनीके उल्लेखसे स्पष्ट है[3]। अतः इसमें संदेह नहीं कि सम्राट् अमोघवर्ष जैनधर्मके उपासक अपने प्रारम्भिक जीवनसे ही थे। श्री जिनसेनाचार्यके सदुपदेशोंको प्राप्त करके वह एक आदर्श श्रावक बने थे। भ० महावीरके धर्मको उन्होंने अपने जीवनमें अच्छी तरह मूर्तिमान कर दिखाया था—'जे कम्मे सूरा ते धम्मे सूरा' की नीतिको उन्होंने खूब ही निभाया था।

अमोघवर्ष एक महान् योद्धा, यशस्वी शासक और विद्वान् सम्राट् थे। जहां अपने ऐहिक जीवनमें उन्होंने अपने भुज-विक्रम और शौर्यको दुष्टोंका निग्रह करनेमें प्रकाशित किया और अपने प्रताप एवं पराक्रमको बढ़ाया, वहां ही धर्म-क्षेत्रमें दान-पुण्य और

---

१ बंगे, भा० १ खं० १ पृ० ५३१. २—दीरा०, पृ० ३१३. ३—अल्बेरुनीका भारतवर्ष देखो।

तपश्चरणादि धर्मनियमोंका पालन करके उन्होंने स्व-पर आत्मकल्याणको साधा था। सम्राट् अमोघवर्षके पास जो भी पहुंचता वह निहाल हो जाता था। वह शरणागतके लिये वरदान थे। जिनमंदिरोंके लिये वह निरन्तर दान देते रहते थे। उनके शक सं० ७८२ (ई० सन् ८६०) के ताम्रपत्रसे प्रगट है[1] कि जैनाचार्य देवेन्द्रको उन्होंने दान दिया था, जब वह अपनी राजधानी मान्यखेटमें मौजूद थे। वस्तुतः उन्होंने जैनधर्म प्रसारमें सक्रिय भाग लिया था। बनवासीके जैनमठोंसे उनका विशेष सम्पर्क था और उनमें सम्राट् अमोघवर्षके निर्देशानुसार कतिपय धार्मिक नियम स्वीकार किये गये थे[2]। निस्सन्देह इस समय श्रावकाचारके नियमोंमें सुधार किया गया था, जैसे हम पहले लिख चुके हैं।

यह भी हम देख चुके हैं कि सम्राट् अमोघवर्षने अपने अन्तिम जीवनमें राज्यका भार अपने पुत्र कृष्ण द्वि०पर छोड़कर आत्महित साधनेके लिये गुरुके चरणोंकी रज और आशीर्वाद प्राप्त करनेके लिये एकान्तवास करने लगे थे। जब उनका हृदय धार्मिक ज्ञानसे परिपक्व हो गया और वैराग्यके गाढ़े रंगसे रंग गया तब वह राज्यसे विरक्त हो गये—विवेकने उन्हें शायद पूर्ण आकिञ्चन्य व्रत पालनेके लिये उत्साहित किया था। स्वरचित 'प्रश्नोत्तर रत्नमालिका' में उन्होंने

१-ऐई, ६।२९ व भाप्रारा० ३।४१.

२-'(Amoghavarsha) seems to have taken an active interest in Jainism; some of the Jain monastries in Banavasi attribute......the authorship of some of their religions ritual to Amoghovarsha.-- Altekar, p. 312

स्पष्ट लिखा है कि विवेक जागृत होनेके कारण उन्होंने राज्यको छोड़ दिया और 'रत्नमालिका' की रचना की[1]। उनके चहुँओर दिगम्बर जैन गुरुओं और साधुओंका नित्य प्रति सुखद विहार होता था[2]। उन्हें आत्मकल्याणकारी अमृतवाणी सुननेको मिलती थी।

जैन गुरुओंकी अमृतवाणीने सम्राट् अमोघवर्षके हृदयमें भेद-विज्ञान जागृत कर दिया। उन्होंने आत्म शौर्य प्रगट किया और त्याग वैराग्यकी चरम सीमा महाव्रती जीवनको अङ्गीकार कर लिया हो तो आश्चर्य ही क्या? यह उनका 'महावीरत्व' था। आत्मोत्कर्षका पुण्यमई स्वर्णयोग था! 'राजत्व'को त्याग कर उन्होंने 'आकिंचन्यत्व'को अपनाया। इस महान् त्यागने उन्हें पूज्य और लोकमान्य बना दिया!

अमोघवर्षकी धर्मनिष्ठा।

सम्राट् अमोघवर्ष केवल धर्मके आराधक ही नहीं थे, बल्कि धर्म विद्याके रसिक और उसके प्रभावक थे, उनका मत यही प्रतीत होता है कि वही विद्या उपादेय है जिससे आत्माका कल्याण और मुक्तिका लाभ हो। इसी श्रद्धानके अनुकूल उन्होंने अपने भाषा ज्ञानको आत्मज्ञानका जामा पहनाया था। वह संस्कृत और कनड़ी भाषाओंके महान् पण्डित थे। स्वयं इन

१—"विवेकात्यक्तराज्येन राज्ञेयं रत्नमालिका।
रचितामोघवर्षेण सुधियां सदलंकृतिः॥"

२—नवमी शताब्दीके मुसलमान लेखकोंने दिगम्बर साधुओंको भारतमें विचरते देखा था। वह वनोंमें रहकर तपस्या करते थे।

—The Ancient Acctts. of India & China by Two Mohanmadan Travelless (1733), p. 32 &.

भाषाओंमें ग्रन्थ रचना करते थे और अन्य विद्वानोंका सम्मान करनेमें उन्हें संतोष प्राप्त होता था। उनके सन्जन दानपत्रसे प्रगट है कि वह सम्राट् विक्रमादित्यसे भी अधिक उदार थे और विरक्त होकर उन्होंने राज्यका भार अपने पुत्र पर छोड़ दिया था। इसी समय उन्होंने सुंदर 'रत्नमालिका'की रचना की थी[1]। कनड़ी साहित्यका 'कविराजमार्ग' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ भी सम्राट् अमोघवर्षकी रचना अनुमान किया जाता है[2]। निसंदेह उभय साहित्यको उन्नतरूप देनेके लिये वह हमेशा तत्पर रहते थे।

वह साहित्यके महान् संरक्षक थे और उनके राजदरबारमें श्री जिनसेनादि अनेक महाकवि मौजूद रहते थे[3]। वीरसेनाचार्यजीने अपनी जयधवला टीका भी इन्हींके राज्यकालमें रची थी[4]। उनके समयमें साहित्यकी विशेष उन्नति हुई थी।

सम्राट् अमोघवर्षने जैनाचार्य श्री गुणभद्रसूरिको अपने पुत्र और उत्तराधिकारी श्री कृष्णराज द्वितीयका गुरु

१–दीरा०, पृ० ४११ इसका तिब्बतीय अनुवाद भी हुआ था, जिसमें भी इसके रचयिता सम्राट् अमोघवर्ष बताये गये हैं (JBBRAS. XXII, 80 ff.) 'रत्नमाला' के आदि और अन्तिम श्लोकोंसे जैन सम्राट् अमोघवर्षकी ही रचना वह सिद्ध होती है; यथा—

"प्रणिपत्य वर्धमानं प्रश्नोत्तररत्नमालिकां वक्ष्ये।
नागनरामरवन्द्यं देवं देवाधिपं वीरं ॥"

× × × ×

विवेकात्यक्तराज्येन राज्ञेयं रत्नमालिका।
रचिताऽमोघवर्षेण सुधियां सदलङ्कृतिः॥"

२–कलि०, पृ० २५. ३–दीरा०, पृ० ४१०.

कृष्णराज द्वि० व जैन गुरु। नियत किया था[1]। इस प्रकार हम देखते हैं कि सम्राट् कृष्णराज अपने पिताके समयसे ही जैनधर्मके संसर्गमें आ गये थे। श्री गुणभद्राचार्यजीने अपना 'उत्तरपुराण' इन्हींके राज्यकालमें समाप्त किया था[2]। सम्राट् कृष्ण द्वितीयने मूलगुंडके जिनमंदिरके लिये दान दिया था[3]। वह भी अपने पिताकी भांति जैन धर्मके अनन्य भक्त और संरक्षक प्रगट होते हैं। श्रवणबेलगोलकी पार्श्वनाथबसति शिलालेख (सन् ११२९) से प्रगट है कि सम्राट् कृष्णराजकी राजसभामें जैन गुरुओंका गमनागमन होता था और सम्राट् उनका आदर करते थे।

एक बार 'घट-वाद-घटा-कोटि-कोविद' साक्षात् (बृहस्पति) देव श्री परवादिमल्लदेव नामक प्रसिद्ध जैनगुरु सम्राट कृष्णके राजदरबारमें आये। सम्राट्ने उनका समुचित आदरसत्कार किया और उनसे उनका नाम पूछा। उन जैनाचार्यने जो उत्तर दिया उससे उनका प्रकाण्ड पाण्डित्य प्रगट होता है। उन्होंने कहा कि "गृहीत-पक्षसे भिन्न पक्ष 'पर' है; जो उसको धारण करते हैं, वे 'परवादिनः' हैं और जो उन परवादियोंसे मल्लयुद्ध करते हैं वह 'परवादिमल्ल' कहलाते हैं। राजन्, सज्जन पुरुष मेरा नाम यही बताते हैं[4]।"

१-दीरा०, पृ० ३१२ व JBBRAS., XXII, 85

२-भाप्रारा०, ३ पृ० ४५ व उपु० प्रशस्ति।

३-JBBRAS., X 192

४-मैजै०, पृ० ३९ व जशिसं०, भूमिका पृ० ८०.

"घटवादघटा-कोटि-कोविदः कोविदां प्रवाक्।
परवादिमल्ल-देवो देव एव न संशयः॥ २८ ॥—चूर्णि॥

सम्राट् इस उत्तरको सुनकर अवश्य ही प्रसन्न और चकित हुये। उनके समयमें भी जैनधर्मका अभ्युदय-सूर्य अपने शीर्षपर चमकता रहा!

इन्द्रतृतीयकी जैन भक्ति।

कृष्णके बाद सम्राट् इन्द्र तृतीय राष्ट्रकूट राजगद्दीपर बैठे थे। कृष्णके यह पोते थे और अपने बाबाकी तरह वह भी जैनधर्मके भक्त थे। दानवुलपादु शिलालेखसे प्रगट है कि समृद्धिशाली नित्य-वर्ष अर्थात् इन्द्र तृतीयने अपनी इच्छाओंकी पूर्तिके हेतु अर्हंत भगवान शांतिनाथके मस्तकाभिषेकके लिये पाषाण सिंहासन निर्माण कराया था। जिनेन्द्रमें उनकी अटूट श्रद्धा थी—जिनेन्द्रकी पूजा—अर्चा करके वह अपनेको कृतकृत्य हुआ समझते थे।[1]

कृष्णराज तृ० का जैन धर्मप्रेम।

इन्द्रराजके पश्चात् अमोघवर्ष (२ य), गोविन्द (४ थे), बद्दिग और कृष्णराज तृतीय क्रमशः राजा हुये। इनके समयमें भी जैनधर्मका उत्कर्ष अक्षुण्ण रहा अनुमान किया जाता है; यद्यपि यह स्पष्ट नहीं है कि इन राजाओंने जैनधर्मके लिये क्या किया था। हां, यह प्रगट है कि इन राजाओंके मंत्रियों

येनेयमात्मानामधेय निरुक्तिरुक्तानाम पृष्टवन्सं कृष्णराजं प्रति॥
गृहीत—पक्षादितरः परस्स्यात्तद्वादिनस्ते परवादिनस्युः।
तेषां हि मल्लः परवादिमल्लस्तन्नाममन्नामवदन्ति सन्तः॥ २९॥

१-दीरा०, प० ३१२ (ASR. 1905-6., pp 121-2. प्रो० सालेतोरे नित्यवर्षसे भाव कृष्ण तृतीयके छोटे खोट्टिग नित्यवर्षका लेते हैं और उन्हें जैनी बताते हैं। मजै० पृ० ४०.

और सामन्तोंमें कई जैन धर्मानुयायी थे। कृष्णराज तृतीयके राजमन्त्री भरत और उनके पुत्र नन्नराज थे।

भरतके पूर्वज भी राष्ट्रकूट राजाओंके मन्त्री रहे थे[1] कृष्णराज तृतीयके विषयमें यह भी जाना जाता है कि वह प्रमुख जैन विद्वान् मुञ्जार्य वादिघंगलभट्टका विशेष आदर करते थे। उनके उत्साहित करनेपर ही कृष्णराज सर्व देशोंको विजय करनेके लिये निकले थे[2]। इनके अतिरिक्त कन्नड़के प्रसिद्ध जैन कवि पोराणने भी सम्राट् कृष्णराजसे विशेष सम्मान प्राप्त किया था। सम्राट्ने उनकी प्रतिभासे प्रसन्न होकर उन्हें 'उभयकवि-चक्रवर्ती' विरुदसे अलङ्कृत किया था[3]।

इन्द्र चतुर्थकी धार्मिकता।

राष्ट्रकूट राजाओंमें सर्व अन्तिम राजा इन्द्रचतुर्थ मिलते हैं, जिनका जैनधर्मसे सम्पर्क सिद्ध है। गंगवंशी राजा मारसिंहने उन्हें राष्ट्रकूट राजसिंहासन पर बैठानेका उद्योग किया था। सम्राट् इन्द्र जैनधर्मके दृढ़-श्रद्धानी थे और सम्यक्चारित्रका पालन करनेमें रस लेते थे। जब उन्होंने यह समझ लिया कि मेरे जीवनकी अंतिमवेला अब निकट है, तब वह श्रवणबेलगोल-तीर्थ पर आ बिराजे और धर्माराधनामें निरत होगये। उन्होंने सल्लेखनाव्रत धारण करके स्वर्ग-सुख प्राप्त किया था[4]। इसप्रकार राष्ट्रकूटवंशके कई राजा जैन धर्मके श्रद्धालु और उसके उपासक मिलते हैं।

उन्हींकी तरह राष्ट्रकूट राजाओंके सामन्त-राजा भी अधिकांश

१-नाच०, भू०, पृ० १९. २-मेज०, पृ० ३९. ३-कविचरिते (कनड़ी) १ पृ० ४०-४१. ४-इंऐं० २३ पृ० ५३ पृ० १२४.

सामन्तराजा भी जैनी।

जैन धर्मानुयायी थे। प्रत्येक सामन्तराजा अपने प्रदेशका स्वाधीन शासक होता था। उसे 'पञ्च-महा-शब्द-गत'का सम्मान मिला होता था। जैन कवि रेवाकोय्याचरके मतानुसार पञ्च शब्दसे अभिप्राय (१) शृङ्ग, (२) संख, (३) भेरी (४) जयवंट और (५) तम्रनाटके शब्द करनेका था अर्थात् सामंत राजाओंके राज्योत्सवोंके समय उपर्युक्त पांच प्रकारके बाजोंसे शब्द किये जाते थे[1]। यह सामन्तगण जैनधर्मके उत्कर्षके लिये राष्ट्रकूट सम्राटोंसे आज्ञा प्राप्त करके दान दिया करते थे। उनके दरबारोंमें जैन विद्वानोंका विशेष आदरसत्कार हुआ करता था।

रट्टवंश और जैनधर्म।

राष्ट्रकूट सामन्तोंमें रट्टवंशके राजा लोग प्रमुख थे। वर्तमान बेलगाम व धारवाड़ जिलोंमें यह शासन करते थे और इनका मुख्य नगर सौन्दत्ति (कुन्तल-बेलगाम जिलेमें) था। राष्ट्रकूट राजाओंसे इनका वंशगत सम्बन्ध था और जैन मुनि चन्द्र इस वंशके प्रतिष्ठापक आचार्य कहे गए हैं। रट्ट राजाओंका झंडा गरुड़ चिह्नसे चिह्नित था और त्रिवली उनका बाजा था। (दक्षिण० पृ० १७४) इनमें सबसे पहले राजाका नाम मेरड़ मिलता है। मेरड़का पुत्र और उत्तराधिकारी पृथ्वीराम था। पृथ्वीराम संभवतः राष्ट्रकूट राजा कृष्णराज द्वितीय अथवा तृतीयके सामन्त और जैनधर्मानुयायी थे[2]। इनके समयमें रट्ट राजधानी सौन्दत्ति ही रही, परन्तु उपरान्त वेणुग्राम (बेलगाम)

१-दीरा०, पृ० २६३. २-भाप्रारा०, ३।७८-७९.

हो गई थी। रट्टोंने सन् ८५० से १२५० ई० तक सुचारु रीतिसे शासन किया था। इनकी उपाधि भी 'लट्टलूरपुरवराधीश्वर' थी।

पृथ्वीराम शान्तिवर्मा। सौन्दत्तिका प्राचीन नाम 'सुगन्धवर्ति नगरी' था। उसके निकट मल्हारी (या मलप्रभा) नदी बहती थी। शक सं० ७९८ में रट्टराज पृथ्वीरामने यहां एक सुन्दर जिनमंदिर बनवाया और १८ निवर्त्त भूमि दान की थी। महाराज पृथ्वीरामके गुरु विद्वान् गुणकीर्तिके शिष्य इन्द्रियजयी इन्द्रकीर्तिस्वामी थे[1]। चौथे रट्टराजा शान्तिवर्मा भी पृथ्वीरामके समान ही जैन धर्मके उपासक थे। उनकी रानीका नाम चांदकव्वे था। उन्होंने सन् ९८१ ई० में सौन्दत्तिमें एक मनोरम जिनमंदिर निर्माण कराया था और उसके लिये १५० मत्तर भूमि प्रदान की थी। उनकी रानीने भी उतनी ही भूमि उसी मंदिरके लिये दी थी। इसी दानपत्रमें यह भी आज्ञा है कि प्रत्येक तेली दीपावलीके दिन मंदिरमें दीप जलानेके लिये एक मन तैल देगा[2]। उपर्युक्त भूमि आचार्य बाहुबलि देवको प्रदान की गई थी, जो व्याकरणाचार्य थे। उस समय सर्वश्री रविचन्द्रस्वामी, अर्हनन्दी, शुभचन्द्र, भट्टारकदेव, मौनीदेव और प्रभाचंद्रदेव मुनिगण विद्यमान थे[3]।

कालसेन। उपरांत सातवें रट्ट-राजा शेन अथवा कालसेन प्रथमके विषयमें ज्ञात होता है कि वह भी अपने पूर्वजोंकी तरह जैन धर्मके भक्त थे। उन्होंने भी सौन्दत्तिमें एक जिनमंदिर निर्माण कराया था

१-बंप्राजैस्मा०, पृ० ८४-८५. २-बंप्राजैस्मा०, पृ० ८५.
३ बंप्राजैस्मा०, पृ० ८६।

और दान दिया था । उनकी रानीका नाम मैल्लदेवी था ।

कन्नकैर । उनके पुत्र कर्ण (कन्नकैर) थे, जो उनके पश्चात् राजा हुये । कन्नकैर भी जैनधर्मके उपासक थे । उनके धर्मगुरुका नाम श्री कनकप्रभ सिद्धांत त्रैवेद्यदेव था, जो उस समय गणधरके समान माने जाते थे[१] ।

कार्त्तवीर्य द्वि० । कन्नकैरके पश्चात् रट्टोंके राजसिंहासनपर उनके भाई कार्त्तवीर्य द्वितीय आरूढ़ हुये थे । उनकी रानी भागलदेवी थीं । कार्त्तवीर्य चालुक्यवंशी राजा भुवनैकमल्ल सत्याश्रयके सामन्त राजा थे । उनको मुनि रविचन्द्रस्वामी और अरहनंदिजीकी निकटता प्राप्त थी[३] ।

कालसेन द्वि० । राजा कालसेन द्वितीय उनके पश्चात् शासनाधिकारी हुये । उनकी रानीका नाम लक्ष्मीदेवी था । संभवतः उन्होंने भी सौन्दतिमें एक जिनमंदिर निर्माण कराया था[४] । सेनके उत्तराधिकारी राजा कार्त्तवीर्य तृतीय थे । उनकी रानी पद्मलादेवी जैन धर्मकी अनन्य उपासिका थीं । धर्मके ज्ञान और श्रद्धानमें वह इन्द्राणीके समान कहीं गई हैं[५] । उनके द्वारा धर्मप्रभावनाके महान् कार्य हुये हों तो आश्चर्य ही क्या ? उन्हींके पुत्र लक्ष्मीदेव थे ।

लक्ष्मीदेव । यादववंशी नरेशराज प्रथमकी पुत्री चंद्रिकादेवी उनकी रानी थीं । राज प्रथमके पौत्र राज द्वितीयने

१ पूर्व पुस्तक पृ० ८४ । २ पूर्व पृ० ८५ । ३ पूर्व० पृ० ८६ ।
४ पूर्व० पृ० ७६ व ८६ । ५ पूर्व० पृ० ८६

भी एक जिनमंदिर निर्माण कराया था और उसके लिये दान दिया था। उस मंदिरके गुरु श्री मूलसंघ कुन्दकुन्द शाखा हणसांगी वंशके गुरु नेमिचंद्रके शिष्य शुभचंद्र थे। वह चंद्रमाके समान पवित्र थे और उन्होंने दिगम्बर जैनधर्मकी बहुत उन्नति की थी। लक्ष्मीदेवने सौन्दत्तिसे हटाकर वेणुग्राम (वेलगाम)में राजधानी स्थापित की थी[1]।

मल्लिकार्जुन।

वेणुग्राम भी एक जैन केन्द्र रहा है। यहां एक दफा १०८ मुनियोंका संघ आया जो श्रावकोंकी असावधानीसे वनाग्निसे अकाल कालकवलित हुआ था। राजा और जैनियोंने इसके प्रायश्चित्तमें वहां किलेके अंदर १०८ जिनमंदिर निर्माण कराये थे[2]। लक्ष्मीदेवके पुत्र कार्तवीर्य चतुर्थ और मल्लिकार्जुन थे, जिन्होंने सन् १२०१ से १२२० तक राज्य किया था। उनके धर्मगुरु व मन्त्री मुनिचंद्र थे। शाका ११२७ में कलहोलीके श्री शांतिनाथ जैन मंदिरके लिये उन्होंने दान दिया था। उसी साल जब वह अपनी राजधानीमें थे तब उन्होंने राजा वीचाके बनवाये हुये जैनमंदिरके लिये श्री शुभचंद्र भट्टारकको भूमिदान दिया था[3]। शक सं० ११२४ में संभवतः इन्हीं भट्टारक शुभचंद्र देवको कार्तवीर्य अपनी माता चंद्रिकादेवी द्वारा निर्मापित जिनमंदिरके लिये दान दे चुके थे[4]। जैन विद्वान पार्श्वपंडित उनके सभाकवि थे।

उपर्युक्त दानपत्र उन्होंने ही राजाकी आज्ञानुसार लिखा था। उनकी उपाधि 'कविकुलतिलक' उन्हें एक श्रेष्ठ कवि प्रगट करती है।

१–बंप्राजस्मा० पृ० ७३ व ८३. २–जैस्मा० पृ० ७६ ३–पूर्व० पृ० ७४ व ८२. ४–बंप्राजैस्मा०, पृ० ८७.

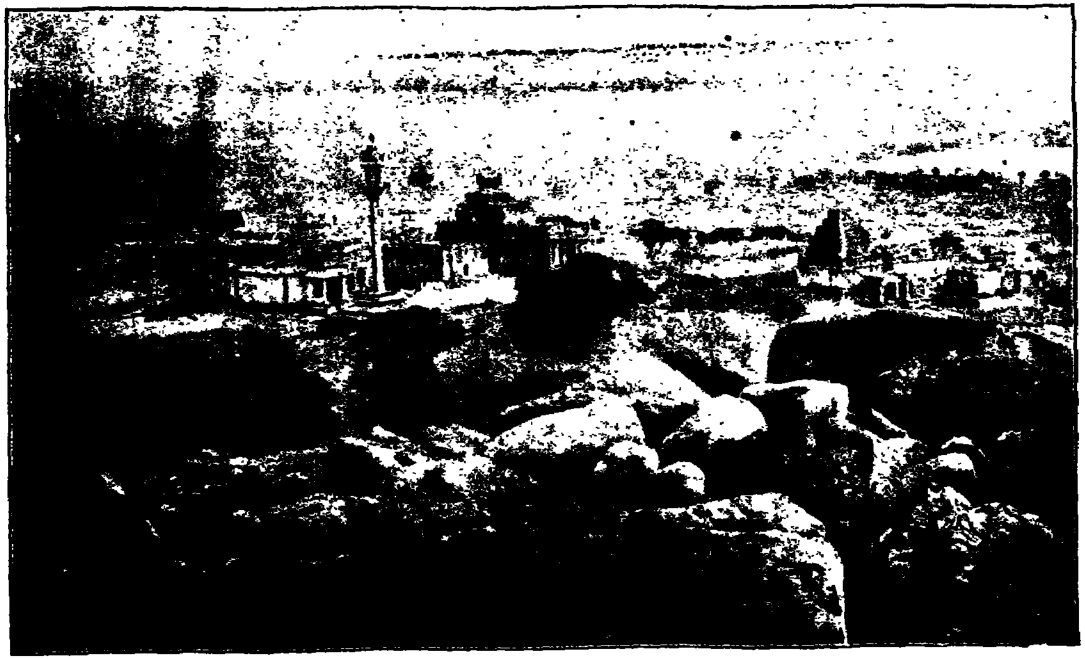
preceptor) रट्टराज्य-संवर्द्धक और संरक्षक, मित्रोंके लिये साक्षात् चंद्र और शत्रुराजाओं रूपी कमलोंको हतप्रभ करनेके लिये भी साक्षात् चंद्र थे। उन्होंने रट्टराज्य समुद्र तक विस्तृत कर दिया था। अपने आत्मज्ञानके कारण ही वह नृप कार्तवीर्यके धर्मगुरु हुये थे। शस्त्रविद्याके पूर्ण ज्ञाता होनेके कारण लक्ष्मीदेवके वह विद्यागुरु हुये। अनेक राजाओंको परास्त करके वह उनके अभिषेक-कर्ता थे। शत्रु रूपी हाथियोंके लिये वह साक्षात् गजेन्द्र थे।

अपने राज्य-प्रबन्धसे उन्होंने सारे देशको एक धर्मका अनुयायी बना दिया था। राजमंत्रियोंमें वह सर्वश्रेष्ठ थे और दानशीलतामें उनकी बराबरी करनेवाला कोई नहीं था। उनके आधीन तीन अमात्य और थे (१) राजलेखक शांतिनाथ, (२) सेनापति नागदेव, (३) और अमात्य मल्लिकार्जुन।

राजमंत्री मल्लिकार्जुन।

मल्लिकार्जुनके पुत्र केशिराजने अपने पिताकी स्मृतिमें भ० मल्लिनाथका जिनमंदिर सौन्दत्तिके बाहर नगर-केरेके तालाबके पास निर्माण कराया था। उसके पिता मल्लिकार्जुन जैन धर्मरत थे, परंतु केशिराजने शिवलिङ्गकी भी स्थापना की थी। शक ११५१ में जब वेणुग्राममें महामंडलेश्वर लक्ष्मीदेव राज्य कर रहे थे तब मुनिचन्द्रकी आज्ञासे किसानोंने भ० मल्लिनाथ देवके अंगभोग व रंगभोगके लिये भूमिदान किया था।

1-Report: pp: 223-229 "......thus listen thou (id the title of " Spiritual Preceptor ' became applicable to him and truly the name of spiritual guide" did (long to the excellent Muni Chandra. '



राष्ट्रकूटराजा इन्द्र चतुर्थका समाधिस्थान—चन्द्रगिरि पर्वत, श्रवणबेलगोला ।

"जैनविजय" प्रेस-सूरत ।

इसी समय सौन्दत्तिके वणिकोंने भी दान दिया था और बेट्ट-मुरके सिन्दरमले नायकने भी दानमें लक्ष्मी लगाकर पुण्यसंचय किया था। वहांके छ गावुंडों (Headmen) ने भी एक गृह जिनमंदिरको भेंट किया था। यह दान श्री शुभचन्द्र सिद्धान्तदेवको दिया गया था। उनके साथ हलोके माणिक्यतीर्थ जिनमंदिरके आचार्य प्रभाचन्द्र सिद्धांतदेव और उनके शिष्य एवं हिरियकुम्मि संघके नायक श्री इन्द्रकीर्तिदेव श्रीधरदेव भी मौजूद थे। लेखमें केशिराज म० मल्लिनाथके चरणोपासक लिखे गये हैं। आश्चर्य है कि वह एक ही समयमें शिव और जिनेन्द्रके उपासक थे[1]।

शान्तिनाथका उल्लेख शान्तिवर्मके नामसे भी हुआ मिलता है।

दंडाधिप शान्तिवर्म।

वह 'इष्टशिष्ट चिन्तामणि' अर्थात् सज्जनोंके लिये चिन्तामणि रत्नके समान इच्छापूर्वक कहे गये हैं। जैनकवि गुणवर्मा उनके आश्रयमें रहते थे। शान्तिनाथ और नागदेव भी जैन धर्मोपदेशक थे[2]।

मुनि चन्द्रदेव 'रट्टराज्य प्रतिष्ठापनाचार्य' भी कहे गये हैं। उसका कारण यह है कि देवगिरिके यादववंशी सिंहणदेवने रट्टराज लक्ष्मीदेवको परास्त कर दिया था, परन्तु मुनि चन्द्रदेवने अपने भुज-विक्रमसे उन्हें पुनः रट्ट राज्यका अधिकारी बना दिया था। लक्ष्मीदेव

1-"Perceiving that this Linga, when worshipping the Linga, shone like a bee at the lotuses which are the feet of Sri Mallinatha, Kesiraj gave to him this grant.-Ibid, p 231.

२-'वीर' वर्ष ११ 'वीराङ्क' अंग्रेजी परिशिष्ट पृ० १०.

स्वयं राज्यशासन करनेके अयोग्य थे । वह रट्टराज लक्ष्मीको सुरक्षित नहीं रख सके । सन् १२३० में देवगिरिके यादव नरेशने उन्हें नष्टभ्रष्ट कर दिया ।

रट्ट राज्यकी इस दुर्दशाको मुनि चन्द्रदेव देख नहीं सके । इसी लिये वह दिगम्बर जैन मुनि हो गये । इसके पहले वह शायद एक उदासीन श्रावक अथवा गृहस्थाचार्य थे (?) । शिलालेखोंमें उनके वंशादिका कुछ भी परिचय नहीं मिलता है । निस्सन्देह अपने प्रारंभिक जीवनमें यह एक सुयोग्य राजनीतिज्ञ और महान् वीर मिलते हैं और उन्हें 'मुनि' ही लिखा गया है। महाबल कवि (सन् १२५४ ई०) ने अपने 'नेमिनाथ पुराण' में मुनि चन्द्रदेवकी प्रशंसामें लिखा है कि "वह काणूरगणके प्रमुख नररत्नोंमेंसे एक थे । तीनलोकमें महा पवित्र रूपमें वह प्रसिद्ध थे । वह अमित पुण्यशाली थे । शत्रुसेनाके लिये साक्षात् यमराज थे। अनेक जिनालयोंके वह उद्धारक थे । रट्ट राज्यके मुख्य विस्तारकर्ता थे और न्याय, व्याकरण, काव्य, यंत्र मंत्रादि शास्त्रोंमें निष्णात थे[1] ।"

मुनिचन्द्रदेव केवल राजनीतिज्ञ, योद्धा और त्यागवीर ही हों, यह बात नहीं, बल्कि वह साहित्यक्षेत्रमें भी चमकते हुये तारे थे । कवि गुणवर्मा द्वि० उनके शिष्य थे । उन्होंने अपने 'पुष्पदन्त पुराण' में मुनिचन्द्रका स्मरण 'उभय कवि कमलगर्भ' कहकर किया है । 'उभय कवि' विशेषणसे विदित होता है कि वह संस्कृत और कनड़ी दोनों ही भाषाओंके कवि और ग्रंथकर्ता थे; परन्तु अभीतक उनकी

१–पूर्व० वीराङ्क पृ० ९.

कोई कृति उपलब्ध नहीं हुई है[1]! सारांशतः रट्टराज्यमें जैनधर्म अपनी चरमोन्नतिको प्राप्त हुआ था।

उपर्युक्त शिलालेखके अनुसार रट्टोंकी राजधानी सौन्दत्ति (सुगन्धवर्ति) भी जैनधर्मका केन्द्रस्थान थी।

सौन्दत्ति। कुण्डीदेशके सुन्दर मैदानमें सौन्दत्ति खूब ही शोभा पाती थी। उसके आसपास छोटी २ पहाड़ियां बड़ी ही मनोरम थीं। अशोक व आम्रवाटिकाओं एवं केलेके बागोंसे वह लहलहाती थी। जिनेन्द्रके अतीव सुन्दर मंदिर वहां बने हुये थे और शिवके भी मन्दिर थे[2]। इस भव्य नगरमें जैनाचार्य निरन्तर धर्मोपदेश दिया करते थे।

राष्ट्रकूट राजाओंके आधीन दूसरे प्रख्यात सामन्त राजा शिलाहार वंशके नृपगण थे। शिलाहार वंशके

शिलाहार वंश और जैनधर्म। राजाओंने ईसवी दसवीं शताब्दिसे १३ वीं शताब्दि तक कोल्हापुर और बेलगाम जिलोंके बहुभाग पर राज्य किया था। इसी वंशके राजा कोंकण प्रदेश पर भी राज्य करते थे। राष्ट्रकूटोंके हतप्रभ होने पर शिलाहार राजा पश्चिमी चालुक्य नरेशोंके करद होकर रहे थे। उनका

१—कजैक०, पृ० २७.

उपर्युक्त शिलालेख एवं साहित्यमें मुनि चंद्रदेवका उल्लेख 'मुनि' विशेषण सहित हुआ है, इससे स्पष्ट है कि वह दि० मुनि हुए थे। परन्तु इसी अवस्थामें उन्हें एक महान् योद्धा और राजमंत्री भी प्रगट किया है। यह कहीं नहीं लिखा है कि उन्होंने यह कार्य गृहस्थ दशामें किये थे। शायद यह लेखकोंका दृष्टिदोष है। २—Report p. 228.

ध्वज (झंडा) सुवर्ण-गरुडका था और उनकी उपाधि 'तगरपुरवराधीश्वर' थी । वह अपनेको जीमूतवाहन विद्याधर राजाके वंशधर घोषित करते थे[1]। 'करकंडुचरित्र' से प्रगट है कि तगरपुर (तेरापुर)में भ० पार्श्वनाथसे भी पहले नील और महानील नामक विद्याधर राजा वैताढ्य पर्वतसे आकर बसे थे । उन्होंने वहां अपना राज्य भी स्थापित किया था । संभवतः इसी विद्याधर राजवंशमें शिलाहारोंके पूर्वज जीमूतवाहन राजा हुये, जिन्होंने शंकचूड नामक नागराजाकी रक्षा की थी । नील महानील राजाओंके बनवाये हुये जिनमंदिर और चैत्य अब भी विद्यमान हैं[2] । गर्ज यह कि शिलाहार वंशके राजाओंके पूर्वज जैनधर्मके उपासक थे और अपने पूर्वजोंकी भाँति वह भी जैनधर्मके संरक्षक और उपासक मिलते हैं ।

शायद पहले शिलाहार राजधानीके हाटकमें थी । उपरान्त क्षुल्लकपुर (कोल्हापुर) में उन्होंने अपनी राजधानी स्थापी थी । श्री समन्तभद्रस्वामी भी कल्हाटक राजाके दरबारमें वाद करनेकी इच्छासे पहुंचे, एक शिलालेखमें बताये गये हैं[3] । संभव है कि उस समय भी वहां पर शिलाहार वंशी राजा शासनाधिकारी हों !

शिलाहारोंका राज्य प्रबंध ।

शिलाहार एवं रट्ट राजाओंका शासन-प्रबन्ध बहुत कुछ राष्ट्रकूट साम्राज्यके शासन-प्रबंधके अनुरूप ही था । राज्यका सर्वाधिकार राजाके ही आधीन था । हां, राजकाजमें उसकी सहायता करनेके लिये (१) प्रधानमन्त्री, (२) संधिविग्रहायक मन्त्री,

१-दक्षिण० पृ० १७५-१७६. २-कंच० (कारंजा जैन सीरीज) भूमिका, पृ० ४१-४२. ३-जैशिसं०, पृ० १०२.

(३) दो राज कोषाध्यक्ष और (४) प्रधानमन्त्री भी होते थे। शासन व्यवस्थाके लिये ग्रामोंमें मुखिया (पट्टकिल=पाटील), नगरोंमें नगराधिप और सबडिवीजनोंमें विषयपति एवं जिलोंमें राष्ट्रपति नियत थे। सोपारा, थाना और चौल खास बंदरगाह थे, जहां आगत मालपर कर लिया जाता था। थानामें मखमल बड़ी सुन्दर बनाई जाती थी। पांच हजार जुलाहे मखमल बुनते थे[1]।

जतिग आदि राजा। शिलाहार वंशमें पहले राजा जतिग नामक मिलते हैं। उनका पुत्र नार्यीवर्म उनका उत्तराधिकारी हुआ। उपरांत चन्द्रराज, जतिग द्वितीय, गोङ्क, गूवल, मारसिंह, गूवल द्वितीय और भोज प्रथम क्रमशः राजा हुये[2]। इन राजाओंका विशेष वृत्तान्त अज्ञात है। पांचवें राजा गूवलका अपर नाम संभवतः भंभा था, जिसका उल्लेख अरब लेखक अल्मसूदीने भी किया था। मारसिंह राजा गोङ्कके पुत्र थे। गूवल उनके चाचा थे। मारसिंहने शक ९८० में मंदिर और खिलिगिलि (पन्हाला) में एक किला बनवाया था। भोजका उत्तराधिकारी उसका भाई बल्लाल हुआ और बल्लालके पश्चात् उसका दूसरा भाई गंडरादित्य राजा हुआ।

गंडरादित्यका जैन-धर्म प्रेम। गंडरादित्य शिलाहार राजाओंमें विशेष प्रसिद्ध और प्रमुख राजा हुये। उन्होंने शक १०३२ से १०५८ तक शासन किया था और वह अपनी दानशीलताके लिये प्रसिद्ध थे।

१-बंगे० भा० १ पृ० २१ व ३७. २-पूर्व पुस्तक पृ० २५५.
३-दक्षिण० पृ० १७५.

कोल्हापुरके निकट प्रयाग नामक स्थान पर उन्होंने एक हजार ब्राह्मणोंको आहारदान दिया था। कोल्हापुरके आजरेम नामक स्थान पर उन्होंने फिर जैन मंदिर बनवाया था और एक बड़ासा तालाब इरुकुड्डी नामक स्थान पर खुदवाया था। इस तालाबवाले मंदिरमें उन्होंने श्री जिनेन्द्र अर्हत्, बुद्ध और शिवकी प्रतिमायें स्थापित कराईं थीं। वह बड़े ही न्यायशील और सज्जन नरेश थे[1]। गंडरादित्यके उत्तराधिकारी उनके पुत्र विजयार्क अथवा विजयादित्य हुये। उन्होंने शक सं० १०६५ से ११७३ तक राज्य किया था। थाना व गोआके सरदारोंकी इन्होंने सहायता की थी। कलचूरी राजा विज्जलकी भी इन्होंने सहायता की थी, जब वह चालुक्योंसे लोहा लेरहा था[2]। इससे मालूम होता है कि इन्होंने चालुक्योंकी आधीनता त्याग दी थी। यह बड़े पराक्रमी नृपति थे। शिलालेखोंमें इन्हें 'श्री शिलाहारनरेन्द्र:'—'युवतिजनमकरध्वजः, निर्दलित रिपुमण्डलकंदर्प:'—'मरुलोकसूर्य'—'सकलगुणतुंग'—'रिपुरुद्दालितभैरव'—'कलियुगविक्रमादित्य'—'धर्मैकबुद्धि:' आदि सुन्दर विशेषणों द्वारा स्मरण किया गया है[3]।

विजयादित्यके धर्मकार्य।

इन्होंने माघ सुदी १५ शाका १०६५ को एक खेत और एक मकान हाविनहीरिलगे नामक ग्राममें वहांके श्री पार्श्वनाथ जिन-मंदिरमें अष्टविधि पूजाके लिये दिया था। इस मंदिरको मूलसंघ

१—बंग०, भा० १, पृ० २५५. २—पूर्व० पु०, पृ० २५५.
३—दिजैडा०, पृ० ७५८.

देशीयगण पुस्तकगच्छके अधिपति माघनंदि सिद्धांतदेवके प्रिय शिष्य सामन्त कामदेवके अधीनस्थ 'सकल-गुण-रत्न-पात्र'–'जिनपदपद्मभृंग'–'विप्रकुलसमुत्तुंगधुरीण' श्री वासुदेवने निर्माण कराया था। इस दानसे क्षुल्लकपुरमें स्थित 'रूपनारायण-जैनमंदिर' के जीर्णोद्धार व आहार-दानादिकी भी व्यवस्था थी[1]। दानके समय राजाने श्री माघनंदि सिद्धांतदेवके शिष्य माणिक्यनंदि पण्डितदेवके चरण धोये थे और इस दानको सर्व प्रकारके करोंसे मुक्त कर दिया गया था।

भोज द्वि० जैनधर्म-संरक्षक।

उपरान्त भोज द्वितीय महामण्डलेश्वर राजा हुये। वह भी एक महाप्रतापी राजा थे। उन्होंने शक ११०१से ११२७ तक राज्य किया था और जैन एवं शैव मंदिरोंको समानरूपमें दान दिया था। भोजने कलचूरी नरेश विज्जलकी आधीनता स्वीकार नहीं की थी, बल्कि रणखेतमें उससे मोरचा लिया था। इसी प्रसंगमें उन्होंने अपनी राजधानी कोल्हापुर बनाई थी, जिसका अपर नाम क्षुल्लकपुर भी था। उन्होंने क्षुल्लकपुरमें कई भव्य जिनमंदिर निर्माण कराये थे[3]। वह श्री विशालकीर्ति पण्डितदेवके शिष्य थे। उन्हींके राज्यकालमें श्री सोमदेवाचार्यने पूज्यपादके संस्कृत व्याकरणपर 'शब्दार्णवचन्द्रिका' नामक टीका गंडरादित्य द्वारा निर्मित त्रिभुवन-तिलक जिनालय' में लिखी थी[4]। बहमनी राजाओंके आगे तक

१–बंप्राजैस्मा०, पृ० १५३–१५४. २–बंग०, भा० १ पृ० २५६. ३–दक्षिण०, पृ० १७५. ४–बंप्राजैस्मा०, पृ० १५६—"स्वस्तिश्री कोल्हापुरवर्त्याजुरिका महास्थाने युधिष्ठिरावतार महामंडलेश्वर गंडरादित्यदेवनि-

उन्होंने सुचारुरीतिसे राज्य किया था। मुसलमानोंके मुकाबिलेमें वह अपनेको स्थिर नहीं रख सके थे। इसप्रकार शिलाहार वंशके प्राय: सब ही राजा जैन धर्मानुयायी मिलते हैं; यद्यपि वे शैवोंको भी दान देते थे।

शिलाहार राजकर्मचारी भी जैनी।

शिलाहार राजाओंकी भाँति उनकी प्रजा भी जैनधर्मकी उपासना अपने आत्मकल्याणके लिये करती थी। 'यथा राजा तथा प्रजा' की नीति वह चरितार्थ कर रही थी। प्रजाके निकट सम्पर्कमें आनेवाले राजकर्मचारी भी प्राय: जैनधर्मानुयायी थे। उनमेंसे कतिपय प्रमुख राजकर्मचारियोंका पता शिलालेखोंसे चलता है। शिलाहार नृप गंडरादित्यके दाहिने हाथ उनके सेनापति निम्बसामन्त थे। शिलालेखमें वह 'विजयलक्ष्मीकांत'—'वीरवारांगणा प्रियभुजंग'—'वैरीसामंत मेघरिपुदिन समीरण'—'गंडरादित्यदेव महावक्षदक्षिणभुजदंड'—'याचकजनमनोखिलहितचिंतामणी'—'सामंतशिरोमणी'—'जिनचरण सरसिरुहमधुकर'—'सम्यक्त्वरत्नाकर'—'आहारभयभैषज्यशास्त्रदानविनोद' —'पद्मावतीदेवी लब्दवाप्रसाद' आदि कहे गये हैं[1]।

निम्ब सामंत।

अपने स्वामी गंडरादित्यकी सेवा निम्बसामन्तने इस खूबीसे की थी—उसके राज्यविस्तारमें उन्होंने अपने शौर्यको ऐसा प्रगट किया कि गंडरादित्य उनसे अत्यंत प्रसन्न हुये। उन्होंने निम्बसामन्तकी स्वामीवत्सलताको अमर बनानेके लिये उनके नामपर एक गांव बसाया। वह

र्मापित त्रिभुवनतिलकजिनालय श्रीमत् परमेष्ठि श्री नेमिनाथ पादपद्माराधितबलेन वादीभवज्रांकुश श्री विशालकीर्तिदेव: वैद्यनस्यत: सोमदेव: etc."

१–दिजैडा०, पृ० ७५७.

गांव आज भी 'निम्बसिरगांव'के नामसे प्रसिद्ध है; परन्तु यह जाननेवाले थोड़े हैं कि उस गांवका नाम स्वामीवत्सलता और कृतज्ञता-ज्ञापनका प्रतीक है। हां, १६वीं शताब्दि तक निम्बसरदारकी वीर गाथाओंको जाननेवाले लोग मौजूद थे।

कन्नडकवि पार्श्वने एक 'निम्बदेवचरिते' रचा और उसमें उनके शौर्य एवं भुजविक्रमका खूब बखान किया। निम्बदेवके सुभटोंको भी उनके शत्रु ऐसा बहादुर मानते थे कि निम्बदेवका नाम सुनते ही खेत छोड़कर भाग जाते थे। निम्बदेवके समान उस समय शायद ही कोई वीर था! निम्बदेव कर्मवीर तो थे ही, परन्तु धर्मक्षेत्रमें भी वह एक चमकते हुए तारे थे। उन्होंने कोल्हापुरमें 'महालक्ष्मी मंदिर' के पास श्री नेमिनाथ भगवान्का सुंदर मंदिर निर्माण कराया था।

उस मंदिरके गुम्बजकी छतसे जो कमल लटक रहा है, वह शिल्पकारीका अनूठा नमूना है। इस गुम्बजकी बाहरी तरफ नीचेवाले गरदनेमें ७२ तीर्थङ्करोंकी खड्गासन मूर्तियां दर्शनीय बनाई गई हैं। किंतु आज यह मंदिर वैष्णवोंके अधिकारमें है और इसमें श्री नेमिनाथके स्थानपर शेषशाई विष्णु विराजमान हैं। यही नहीं कि निम्बदेवने यह एक मंदिर बनवाया हो, बल्कि उन्होंने कोल्हापुर और उसके आसपास सब ही जिनमंदिरोंको दान दिया था। तेरदाल—शिलालेखसे प्रगट है कि वह स्वयं जैनधर्मके पण्डित थे और धार्मिक नियमोंको स्वयं पालते थे, एवं सर्वसाधारणको धर्म पालनेका उपदेश देते थे[1]। जिन मुनियोंको दान देना और जिनेन्द्रकी पूजा करना,

---

१-वीर वर्ष ११ वाराङ्क-अंग्रेजी परि० पृ० १०-११.

उस समय प्रत्येक जैनीके लिये आवश्यक नित्य कर्म था और वह इन धर्मकार्योंको करके अपने भाग्यको सराहता था। धन्य थे कर्म्मवीर और धर्म्मवीर निम्बदेव!

बोप्पन दंडनायक। शिलाहार-राजा विजयादित्यके बोप्पन नामक दंडनायक भी जैनधर्मके स्थंभ थे। किदरपुरके कोपेश्वर मंदिर-वाले है शिलालेखोंमें बोप्पनका उल्लेख हुआ है और वह विजयादित्यके वीर सेनापति कहे गये हैं। उनमें लिखा है कि "जिस प्रकार हरिके लिये गरुड़, रामके लिये मारुति और कामके लिये वसन्त विशेष सहायक थे, उसीतरह विजयादित्यके लिये बोप्पन हैं। वह रणक्षेत्रमें शत्रु पक्षका नाश करनेके लिये महान् योद्धा थे[1]।" बोम्मनने स्वयं वह सुंदर मंदिर निर्माण कराया था। उनके विषयमें अधिक वृत्तान्त अज्ञात है।

सेनापति लक्ष्मीधर। विजयादित्य नरेशके दूसरे सेनापति लक्ष्मीधर नामक थे। वह राजमन्त्री और राजलेखक भी थे। कन्नड जैनकवि कर्णपार्य (सन् ११४० ई०) के आश्रयदाता भी यही सेनापति लक्ष्मीधर थे। कविने लिखा है कि किलेकल नामक दुर्गके स्वामी गोवर्धन नामक सामंत थे। उनके चार पुत्र हुये जिनके नाम-(१) विजयादित्य, (२) लक्ष्मण या लक्ष्मीधर, (३) वर्धमान और (४) शांति थे। यही लक्ष्मीधर विजयादित्यके दण्डाधिप थे।

'नेमिनाथ पुराण' में कर्णयार्यजीने उनकी प्रशंसामें लिखा है

१-पूर्व० वीरांक० पृ० ११-१२.

कि "वही शिलाहार राज्यका सुप्रबंध करनेके लिये योग्य पुरुष थे, विद्वानोंमें वह सर्वअग्रणी थे, वह एक ही वीर थे-भुवनविख्यात् थे, गोपयके दामाद थे और सम्यक्त्व-रत्नाकर थे।" जनसाधारणके उपकार हेतु उन्होंने ही इस पुराणकी रचना करनेके लिये कविको उत्साहित किया था। कविने भी उसे सरल और सरस भाषामें रचा और उसमें लक्ष्मीधरकी तुलना श्री कृष्णजीसे की। लक्ष्मीधरने अपने स्वामी और देशकी रक्षाके लिये कई युद्ध लड़े थे, जिनमें शत्रुओंको उन्होंने मार भगाया था। उनके दोनों कनिष्ट भ्राता-वर्धमान और शांति, अत्यन्त सुंदर और धर्मभावको रखनेवाले महानुभाव थे। लक्ष्मीधर निरन्तर उनके साथ धर्मचर्चा और धर्मचर्यामें निरत रहकर अमित पुण्यसंचित करते थे। उनके गुरु श्री जैनाचार्य नेमिचन्द्र मुनि थे[1]।

जोलके चालुक्य व जैनधर्म।

राष्ट्रकूट राजाओंका प्राबल्य होनेपर चालुक्यवंशके कुछ राजा लोग उनके आधीन होगये थे। उनमेंसे एक शाखा 'जोल' नामक प्रान्तपर सत्ताधिकारी थी। यह प्रान्त वर्तमान धारवाड़ जिलेके अन्तर्गत था। इन राजाओंकी राजधानी पहले पुडगेरी पश्चात् गंगधारा रही थी। इस शाखामें क्रमशः (१) युद्धमल्ल, (२) अरिकेसरी (३) नारसिंह (४) युद्धमल्ल (५) बद्दिग (६) युद्धमल्ल (७) नारसिंह (८) अरिकेसरी (९) भद्रदेव व (१०) अरिकेसरी तृतीय (वि० सं० १०१६) ने राज्य किया था।

युद्धमल्ल सपादलक्ष प्रदेशके स्वामी थे, जिसकी राजधानी पोद-

१-कजैक० पृ० १८-१९.

नपुरमें उन्होंने तेलसे भरे हुए तालाबोंमें अपने हाथियोंको नहलाया था। अरिकेसरीने कलिंगत्रय व वेंगीदेशका भी संरक्षण किया था। बद्दिगने पराक्रमशाली भीम नामक राजाको जलयुद्धमें अनायास परास्त किया था। युद्धमल्ल भी अत्यंत उदार और प्रतापी राजा था। अरिकेसरी द्वि० इस वंशमें सुप्रसिद्ध और प्रभावशाली राजा हुआ। इसका विवाह राष्ट्रकूट वंशकी राजकुमारी लोकांबिकाके साथ हुआ था। इनके राजदरबारको ही कनड़ी भाषाके सर्वश्रेष्ठ कवि पम्प सुशोभित करते थे, यह पहले लिखा जा चुका है। उन्होंने वि० सं० १०२३ में श्री 'यशस्तिलकचंपू' के कर्ता सोमदेवसूरिको वनिकट्टपलु नामक गांव अपने पिता बद्दिग द्वारा निर्मित 'शुभधाम जिनालय" नामके मंदिरके लिये प्रदान किया था।

बद्दिग और अरिकेसरी—दोनों ही राजा श्री सोमदेवसूरिका विशेष सम्मान करते थे[1]। बद्दिगकी राजधानी गंगधारा उस समय जैन कवियोंकी स्व-पर-कल्याणकारी स्वरलहरीसे गुंजारित हो रही थी[2]। सारांशतः चालुक्योंकी जोल-शाखाके राजाओंके द्वारा भी जैनधर्मका उत्कर्ष हुआ था।

चाकिराजादि। चालुक्यवंशकी एक अन्य शाखा कुमिन्जिल देशपर भी शासन करती थी। इस शाखाके (१) बलवर्मन, (२) यशोवर्मन और (३) विमलादित्य नामक राजाओंका पता मैसूरके कडब नामक स्थानसे प्राप्त ताम्रपत्रसे चलता है। यशोवर्मनको गंगमंडलपर शासन करनेवाले

१-दक्षिण० पृ० १४८-१५१. २-दीरा० पृ० ४११.

सामंत चाकिराजकी बहन व्याही थी। विमलादित्य उन्हींका पुत्र और उत्तराधिकारी था। उसपर शनि-गृहका पूर्ण प्रकोप था।

चाकिराजने अपने जैनगुरुसे उनकी व्यथा कही। ज्योतिर्विद् गुरुने उस ग्रहदोषका समुचित उपाय कर दिया। चाकिराजने कृत-ज्ञता ज्ञापनके लिये राष्ट्रकूट सम्राट् गोविन्द तृतीयसे प्रार्थना की कि वह जैन गुरु अर्ककीर्तिको एक ग्राम भेंट दें, जिससे कि वह एक जिनमंदिर बनवावें। वल्लभ नरेन्द्रने चाकिराजकी यह प्रार्थना स्वीकार की और जलमंगल नामक एक गांव मुनि अर्ककीर्तिको प्रदान किया। यह जैन गुरु श्री गुप्तगुप्ताचार्यके समूहसे पूज्यमान आचार्य कीर्तिकी परम्परामें नंदिसंघ पुन्नागवृक्षमूलगणके आचार्य कुविके शिष्य थे[1]।

श्रवणबेल्गोलके लेखोंसे रणपाकरस और गोग्गी नामक चालुक्य सामंतोंका भी पता चलता है। ये भी जैन धर्मानुयायी थे[2]।

चेल्लकेतन राजवंश व जैनधर्म।

राष्ट्रकूट सामंत राजाओंमें बंकापुरके चेल्लकेतन राजवंशके राजा भी प्रसिद्ध थे। वह राजपरम्परीण महासामंत थे और वनवासी प्रदेश पर शासन करते थे। महासामंत बङ्केय सम्राट् अमोघवर्ष प्रथमके विश्वासपात्र दाहिने हाथ थे। उन्होंने ही बंकापुर बसाया था और सम्राट् अमोघवर्षके लिये उन्होंने कई युद्ध लड़े थे। केदल नामक दुर्गमें एक शत्रुकी मौल सेना रहती थी। बंकेयने अपने स्वामीके लिये उसे बात करते जीत लिया था[3]।

१-बंशो०, भा० १ खण्ड २, पृ० ४००, २ दक्षिण० पृ० १४५
३ दीरा० पृ० २५० ।

सेनापति बङ्केय। बङ्केय जैसे एक महान युद्धवीर थे, वैसे ही वह धर्मवीर भी थे। जैनधर्ममें उनकी दृढ़ श्रद्धा थी। बङ्कापुरमें उन्होंने एक जिनमंदिर निर्माण कराया था और उसके लिये सम्राट् अमोघवर्षकी आज्ञा प्राप्त करके एक गांव प्रदान किया था। गुरुओंकी सेवा और दानधर्म करनेमें वह निरन्तर रस लेते थे।[1]

महासामन्त लोकादित्य। उनके पश्चात् उनका पुत्र लोकादित्य वनवासी प्रदेशका शासक हुआ। लोकादित्यके गुरु 'उत्तरपुराण' के रचयिता श्री गुणभद्राचार्यजी थे। उन्होंने शक सं० ८२० में वह पुराण बङ्कापुरमें रचा था। उन्होंने लोकादित्यके विषयमें लिखा है कि उसका प्रताप दिगन्तव्यापी था, शत्रुरूप अन्धकारको उसने मेट दिया था, वह श्रीमान् था, उसकी पताकायें कपड़ेकी थीं, वह चेल्लकेतन वंशका सपूत था, (चेल्लपताके चेल्लध्वजानुजे चेल्लकेतन तनूजे) और वह जिनधर्मकी सदा वृद्धि करते रहते थे (जैनेन्द्रधर्मवृद्धिविधायिनि विधुवीध्रयशसि)[2] निस्सन्देह उनके समान धर्मधुरीण नरपुंगवोंके कारण ही बङ्कापुर उस समय जैनधर्मका प्रमुख केन्द्र बन रहा था।

वहांके आचार्योंके निकट आकर धर्माचरण और सल्लेखना व्रतको अनेक मुमुक्षु ग्रहण करते थे। चेल्ल केतन वंशके राजा निरन्तर जैन-धर्मकी वृद्धि करनेमें निरत थे। राष्ट्रकूट-सम्राट् कृष्ण तृतीयके समयमें इसी वंशके कलिविट्ट नामक महासामंत राजा बनवासीके शासक थे।

१-दीरा०, पृ० ३१२ व एइं०, भा० ६ पृ० २९, २-उपु० प्रशस्ति:

उन्होंने भी बङ्कापुरमें एक सुंदर जिनमंदिर बनवाया था।[1] इन्द्रराज चतुर्थके भी एक सामंतने हत्तीमत्तूर नामक स्थानके लिए एक ग्राम भेंट किया था। (बंप्राजैस्मा) सारांशतः राष्ट्रकूट राजाओंके प्रायः सब ही प्रमुख सामंतगण जैनधर्मप्रभावनाके कार्योंमें निरत मिलते हैं।

राष्ट्रकूट राजाओंके राजकर्मचारी व जैन धर्म।

राष्ट्रकूट राजाओंके सामन्त राजाओंके समान ही उनके राजकर्मचारी भी जैनधर्मके संरक्षक और संवर्द्धक थे। वे इस धर्मकी उपासना करते और शरणमें आनेसे अपनी आत्माका कल्याण होता मानते थे। उन सबका न तो आज पता लगाना ही संभव है और न उनका परिचय ही कराया जासक्ता है। फिर भी कतिपय प्रमुख राजमंत्रियोंका परिचय यहां उपस्थित किया जाता है। सम्राट् इन्द्र तृतीयके एक सेनापति श्री विजय नामक थे। वह जैनधर्मके उपासक ही नहीं उसके विशेष ज्ञाता थे। जैन साहित्यको वृद्धिगत करनेमें उन्होंने विशेष भाग लिया था। कहते हैं कि 'चन्द्रप्रभपुराण' आदि ग्रन्थ उन्होंने रचे थे।

श्री विजय-भरत व णण्ण।

उन्हींकी तरह सम्राट् कृष्णराज तृतीयके राजमंत्रीगण भी जैन धर्मके उपासक और प्राकृत जैन साहित्यके प्रोत्साहक मिलते हैं। उनमेंसे एकका नाम भरत था। वह कौण्डिन्य गोत्री ब्राह्मण थे। उनका वंश ब्राह्मणोंमें धनवान और प्रतिष्ठित था। उसमें परम्परासे राजमंत्री होते आये थे। (महामंत्राह्वय: वंशः)

१-मेजै०, पृ० १४४ फुटनोट २। २-एइं० भा० १० पृ० १४९ व दीए० पृ० ३१२।

भाग्यवशात् कुछ कालके लिये लक्ष्मी उससे रूठ गई, परन्तु भरतने अपने स्वामी कृष्णराजकी विशेष सेवा करके उसे पुनः प्राप्त करलिया। (संतानक्रमतो गतापि हि रमा कृष्टा प्रभोः सेवया) उनका वंश राज्यमान्य और लोकपूज्य होगया।

इसी वंशमें अन्नय्य नामक एक महानुभाव थे। जिनके पुत्र ऐरण थे। ऐरण ही राजमंत्री भरतके पिता थे। उनकी माताका नाम देवी था। कुन्दव्वा नामक रमणीसे चक्रवती भरतका विवाह हुआ था। देवल, भोगल, म्मण्ण, सोहण, गुणवम्म, देगैय और संतैय नामक उनके सात पुत्र थे। भरतने जैन महाकवि पुष्पदन्तको अपने आश्रयमें रख कर प्राकृत जैन साहित्यको उन्नत बनाया था। पुष्पदंतने लिखा है कि यद्यपि भरत देखनेमें श्याम थे (श्यामः प्रधानः) परन्तु उनकी शरीराकृति सुंदर और आकर्षक थी। उन्हें वह भारत-मल्ल' कहते हैं और बताते हैं कि वह वल्लभरायके कटक-नायकोंमें एक थे। (वल्लभराज...कटके यश्चाभवन्नायकः) पर साथ ही वह राजप्रासादमें दान धर्मके राज्याधिकारी (मंत्री) भी थे। (प्रचण्डावनिपति भवने त्यागसंख्यानकर्त्ता) संतों जैसा उनका सुंदर वेष था और उनके मुखसे सदा मीठे वचन निकलते थे। (सयासन्तो वेसो, मुहे दिव्वावाणी) वह विद्याप्रिय थे। पर मजा यह कि सरस्वती और लक्ष्मी दोनों ही उनपर प्रसन्न थीं—दोनों हीका उनमें निवास था (श्रीरुरसि, सरस्वती वदनपङ्कजे) उनके गुणोंको बताना सुगम न था। स्वप्नमें भी परनारीकी ओर उनकी दृष्टि नहीं जाती थी। (स्वप्नेप्येष पराङ्गनां न वाञ्छति)।

वह दीन दुखियोंको निरन्तर दान देते रहते थे। उनके घरमें

विद्वज्जनोंका आवास था। वहां आये दिन साहित्यगोष्ठियां होती थीं। कविगण सरस काव्योंका बखान करते थे और लेखकगण अमूल्य साहित्य रचनाओंकी प्रतिलिपियां तैयार करनेमें निरत रहते थे।

महाकवि पुष्पदंतने उन्हींकी प्रेरणासे 'महापुराण' नामक महाकाव्य रचा था। मंदिर तालाब आदि बनानेके स्थान पर उन्होंने लक्ष्मीका बहुभाग जिनग्रंथोंके प्रसारमें ही व्यय किया था। अनुमानतः 'महापुराण'की रचनाके तीन वर्ष पश्चात् भरत स्वर्गवासी हुये थे[1]। उनका राजमंत्रित्व-पद उनके सुयोग्य पुत्र णण्णको प्राप्त हुआ था। णण्ण भी अपने पिताकी भांति जैनधर्मके अनन्य प्रभावक रहे थे। महाकवि पुष्पदन्तको उनके निकट भी पूर्ववत् आश्रय प्राप्त रहा था।

उन्होंने णण्णके ही आग्रहसे 'नागकुमार चरित्र' और 'यशोधर चरित्र' नामक काव्य ग्रंथ रचे थे। इन ग्रंथोंमें महाकविने णण्णराजके विषयमें लिखा है कि णण्ण आसन्न-भव्य थे; बुद्धिमें बृहस्पतिको चुनौती देते थे; सब शत्रुओंको उन्होंने जीत लिया था; प्रभुभक्तिमें हनूमानजीसे बढ़े चढ़े, शौचमें भीष्मसे भी श्रेष्ठ, धर्ममें युधिष्ठिरसे भी बढ़कर और त्यागमें कर्णको भी शरमाते थे। देखनेमें वह अति सुंदर थे और सागरके समान गंभीर थे। धर्मकार्य करनेमें उनको हमेशा आनन्द आता था। उनके छोटे भाई भी उन्हींकी तरह धर्मकार्योंको निरन्तर करते रहते थे। जिनवाणीके प्रचार और उद्धारका उन्हें विशेष ध्यान था। क्षीण हुई अपभ्रंश-प्राकृत साहित्यकी प्रतिभाको उन्होंने पुनः चमका दिया था। इसीलिये शायद वह

१—मपु० भूमिका, पृ० २८-३२।

" विच्छिण्ण-सरसइ-बांधव " कहे गये हैं। निस्सन्देह उस समय वह मान्यखेटमें जैनधर्मके स्थंभ थे! उन ही सदृश धर्म-वीरोंके आश्रयमें रहा हुआ जैन संघ उन्नतशील होरहा था!

राष्ट्रकूट राजाओं और सामन्तोंके उपर्युक्त विवरणको पढ़ते हुए इस बातकी ओर विशेषरूपसे ध्यान आकर्षित होता है कि प्रायः प्रत्येक धर्मेच्छु नरेश अथवा सामन्त जिनमंदिर बनवाता हुआ मिलता है। उस समय जिनमंदिरोंमें वह क्या विशेषता थी कि जिससे उनका बनवाना जनहितका महती कार्य समझा जाता था? इस विषयमें खास ध्यान देनेकी बात यह है कि जैन संस्कृति परमार्थ-प्रधान रही है। वह मनुष्यका ऐहिक जीवन सुख और शांतिसम्पन्न बनाकर ही चुप नहीं होती, बल्कि बताती है कि मनुष्यको अपना परलोक भी संभालना चाहिये और निरबाध मोक्ष-सुख प्राप्त करनेका सतत उद्योग करना चाहिये। जैन संस्कृतिके इस आदर्श उद्देश्यको सफलीभूत बनानेके लिये ही उस समय अगणित मंदिर निर्माण किये जाते थे।

जैन मन्दिरोंकी विशेषता।

वह व्यक्तिविशेषके ऐहिक और पारमार्थिक जीवनको समुन्नत बनानेके प्रशंसनीय केन्द्र थे। उनका प्रबन्ध लौकिक प्रपंचोंमें फंसे हुए गृहस्थ-पंचोंके हाथोंमें प्रायः नहीं था। निर्ग्रन्थ दि० आचार्य ही उनका प्रबन्ध करते थे। उनमें जैनधर्मकी शिक्षा और दीक्षा देकर परमार्थमार्गकी वृद्धि की जाती थी। साथ ही उनमें आहार-औषधि-अभय और ज्ञानदान दिये जानेका भी प्रबन्ध था। जैनी सुपात्र ही

उससे लाभ उठाते हों, यह बात भी नहीं बल्कि प्रत्येक दीनदुःखी और जरूरतमन्द उससे लाभ उठाता था। अनेक हीन-निर्वाह जन जिनमंदिरोंकी शरणमें आते थे और अपने ऐहिक जीवनके साथ ही जैनाचार्यके सदुपदेशको पाकर पारिलौकिक जीवन भी समुन्नत बना लेते थे। कोई श्रावकके व्रत लेता था, तो कोई मुनिव्रत ग्रहण करता था। जिनमंदिर उस समय निस्संदेह 'त्रिलोकभुवनाश्रय' बने हुये थे। जैनसंस्कृतिके वह केन्द्र थे; केवल पूजाके ही स्थान नहीं थे! यही उनकी विशेषता थी!

जैन संस्कृतिका प्रभाव।

जिनमंदिरोंमे आश्रय पाई हुई जनता जैन संस्कृतिके रंगसे रंग गई थी। उसका आचार विचार अहिंसाधर्मके अनुकूल था। 'यशोधर चरित्र' के आख्यानसे स्पष्ट है कि उस समय लोग वैदिक धर्मीय संस्कारोंको भूलने लगे थे, क्योंकि वह उनकी भयंकरता समझ गए थे। पशुओंकी बलि चढ़ाना तो दूरकी बात थी, लोग पीठी (दाल) का भी मुर्गा बनाकर चढ़ाते डरते थे। चहुं ओर अहिंसाधर्मका ही प्राबल्य था।

अरबलेखक सुलेमानके वर्णनसे स्पष्ट है कि "राष्ट्रकूट साम्राज्यमें प्रजाजन प्रायः शाकाहारी थे—चांवल, दाल, मटर आदि ही उनका दैनिक भोजन था। वे संयमी जीवन व्यतीत करते थे और शराब तो क्या शिरका (Vinegar) भी नहीं पीते थे[1]!" भोजन करनेके पहले

१-बंप्राजैस्मा०, पृ० ११४ "They drink no wine, nor admit vinegar, because it is made of wine......They burn their dead etc." —Ancient Acctts: pp. 31-42.

स्नान करते थे। शौचधर्मको पालनेका पूरा ध्यान रखते थे। ऋतुमती स्व-पत्नीके पास भी कोई नहीं जाता था—वह एकान्तमें रहती थी। दाहसंस्कार करके दाढ़ी-मूछें मुड़ाते थे। अपने भाइयों तक ही उनकी उपकारवृत्ति सीमित नहीं थी; विदेशी भी उनसे लाभ उठाते थे। वे दयालु थे, सच्चे थे, किसीको निरपराध सताना नहीं जानते थे। पशुओं तकको कोई नहीं सताता था! यह था प्रभाव जैन संस्कृतिके वह प्रचारका! तब चहुंओर सुखलहरी बह रही थी!

अहिंसाका प्रभाव-वीरता।

राष्ट्रवाड़ीमें जैनधर्मके बहुप्रचारका प्रभाव केवल जनताके सदाचार तक ही सीमित नहीं रहा—जैनधर्मके अहिंसा सिद्धांतने जनताको ईमानदार और साहसी बना दिया था। अहिंसाने उनके हृदयोंको परोपकार भावसे ओतप्रोत कर दिया था। वह स्व-परकल्याण करनेके लिये हरसमय तैयार रहते थे। शरणागतको अभय बनानेमें उन्हें रस आता था। चालुक्य वीर अरिकेशरीके उदाहरणसे स्पष्ट है कि उन्होंने शरणागतकी रक्षाके लिये अपने स्वामीका मुकाबिला किया था। धर्मद्रोहियोंसे रट्ट राज्यकी रक्षा करनेके लिये विरक्त परिणामी मुनि चंद्रदेवने राज्यप्रबंधका भार और सैन्यसंचालनका

१-एक तत्कालीन अरब लेखकने लिखा है कि चीनदेशवाले शिकार खेलने और दूसरोंको पीडा पहुंचानेवाले कामोंमें मजा लेते हैं; परन्तु भारतीय इन कामोंको बुरा मानते हैं और उनमें रस नहीं लेते।

"The Chinese are f.nd of gaming and all manners of Diversions. On the contrary the Indians condemn them, and have no pleasure in them."-Renaudot, Ancient Acctts:, P. 32.

कार्य संभाला था। और तो और, स्त्रियां भी अपने शौर्यको किसी न किसी रूपमें प्रगट करती हुई तब मिलती हैं। कृष्णराज द्वि०के समयमें महासामन्त कलिविट्टरस बनवासी प्रांत पर शासन करते थे। उनके आधीन नगरखंडनाडुका नालगावुंड सत्तरस नागार्जुन नामक था। वह सब ही जैनधर्मानुयायी थे। एक दफा कलिविट्टरसके साथ नागार्जुन एक युद्धमें लड़ते हुये वीरगतिको प्राप्त हुआ। उसकी वीरतासे प्रसन्न होकर कृष्णराजने नालगावुंडका पद उसकी विधवा स्त्री जक्कियव्वेको प्रदान किया।

जक्कियव्वेने योग्यतापूर्वक शासनसूत्र संभाला। एक समय उनके शरीरमें असाध्य रोग प्रगट हुआ। औषधि-प्रयोग निष्फल होता देखकर उन्होंने वीर-मरण करना निश्चित किया। उनके पतिने वीरगतिसे शरीर विसर्जन किया था, फिर भला वह कैसे खाटपर पड़ी रहकर कायरोंकी तरह शरीरान्त होने देतीं? उन्होंने जान लिया कि मेरा अन्तसमय निकट आगया है। वह घरसे निकल पड़ीं-सबसे क्षमा ली-सबको क्षमा किया-घरबारका ममत्व त्याग दिया। श्री जिनमंदिरके लिये दान दिया और बन्दनिके नामक तीर्थपर जाकर सन् ९१८ ई० में उन्होंने गुरुमहाराजसे सल्लेखना व्रत लिया-साहससे उसे पाला और इच्छा-राक्षसीके चंगुलसे अपनेको मुक्त कर लिया।

शिलालेखमें लिखा है कि जक्कियव्वेने अपने राजपदको खूब निभाया और वैसे ही जिनेन्द्रकी आज्ञाको ठीक ठीक पाला। राज्यकार्य संचालनमें वह 'उत्तम-प्रभु-शक्ति-युक्त' थीं और उन्होंने 'निज-वीर्य-विक्रम-गर्व' को प्रगट करनेके लिये ही इच्छाओंको विजय किया

था । ऐसी शूर-वीरा वह जैन महिला थीं ।" इसीप्रकार कृष्णराज तृतीयके शासनकालमें इम्मडिघोर नामक सामन्त काडूरके किलेके अधिकारी थे । वह संभवतः एक राजकुमार थे । उनकी रानी पाम्बव्वे, गंगवंशके राजा बट्टुग द्वितीयकी बहन जैनधर्मानुयायी थीं ।

जब उनके पति वीर गतिको प्राप्त हुए और उन्हें वैधव्य नसीब हुआ तो अपने जीवनको सफल बनानेके लिये—उस दुष्कर्म-रूपी शत्रुको नष्ट करनेके लिये, जिसने उनकी सौभाग्य-लक्ष्मी लूट ली थी, वह घरसे निकल पड़ीं । गुरु महाराजके पास पहुँचीं और उनसे महाव्रत ग्रहण किये । वह आर्यिका हो गईं । उनकी गुरु—माता आर्यिका णानव्वेकन्ति नामक थीं । अपनी धार्मिकताको प्रगट करनेके लिये उन्होंने केशलुंचन समभावोंसे किया और 'यम-नियम-स्वाध्याय-ध्यान-मौनानुष्ठान' का पालन करते हुए उन्होंने तीस वर्षतक तप तपा ! उनके पुत्रोंने अपनी वीर माताके इस धर्म साहसका दर्शानेवाला एक पाषाण लेख काडूर किलेके एक स्तंभपर सन् ९७१ ई० में अङ्कित करा दिया ! सारांशत यह स्पष्ट है कि जैन अहिंसाको शिक्षा पाकर राष्ट्रकूट साम्राज्यके स्त्री-पुरुष संयमी और साहसी बने थे—कायरता उनको छू नहीं गई थी । वह कर्मवीर होनेके साथ ही धर्मवीर थे । जैन कवियोंने उस समय लोगोंके हृदयोंमें संयत वीरभाव जागृत कर दिया था, जिसके कारण प्रत्येक व्यक्ति अपना और

१–इका०, भा० ७ शिकारपुर तालुका शि० नं० २१९ ।
२–एइं०, २–२१५–वीर, वर्ष ११ 'वीराङ्क' अंग्रेजी भाग पृ० १९ ।
३–'यशस्तिलकचम्पू' व 'आदिपुराण' देखो ।

पराया भला करनेपर तुला हुआ था। जो लोग यह ख्याल करते हैं कि अहिंसाने भारतीयोंको कायर बना दिया, वह मात्र ऐतिहासिक सत्यका खून निर्दयतासे करते हैं। प्रो० आल्तेकरने राष्ट्रकूटकालमें जैन अहिंसा प्रचारका परिणाम यह नहीं बताया–उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि जैनी अहिंसाने मनुष्योंको कायर और कमजोर नहीं बनाया था! राष्ट्रकूटकाल जैनधर्मके उत्कर्षके लिए स्वर्णअवसर था।

१-"It must be remembered that Jainism preaches the doctrine of Ahinsa in a more extreme form than Buddhism, & yet the history of Deccan of our period shows that it had no emasculating effect upon its followers."-सीया पृ० ३१६.